

ॐ

परमात्मने नमः

श्रीमद् राजचन्द्र प्रणीत

# श्री आत्मसिद्धि शास्त्र

( सरलार्थ और संक्षिप्त प्रवचन परिशिष्ट सहित )

प्रस्तावना एवं सरलार्थ :

श्री रामजी माणेकचन्द्र दोशी  
सोनगढ़ ( सौराष्ट्र )

: हिन्दी अनुवाद :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन  
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा ( राज. )

: प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.  
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले ( वेस्ट ), मुम्बई-400 056  
फोन : ( 022 ) 26130820

विक्रम संवत्  
2078

वीर संवत्  
2548

ई. सन  
2022

—: प्रकाशन :—

आषाढ माह अष्टाह्निका महापर्व एवं  
वीरशासन जयन्ती के उपलक्ष्य में  
दिनांक 14 जुलाई 2022

—: प्राप्ति स्थान :—

1. श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250 फोन : 02846-244334

2. श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.  
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ला (वेस्ट), मुम्बई-400 056

फोन : (022) 26130820, 26104912, 62369046

[www.vitragvani.com](http://www.vitragvani.com), email - [info@vitragvani.com](mailto:info@vitragvani.com)

टाईप सेटिंग : विवेक कम्प्यूटर, अलीगढ़।



## प्रस्तावना

श्री आत्मसिद्धि शास्त्र के कर्ता श्रीमद् राजचन्द्रजी हैं, उन्हें नडियाद मुकाम में संवत् 1952 में इसकी रचना की है। प्राथमिक विद्यार्थियों को तत्त्व समझने के लिये यह शास्त्र भी उपयोगी है, इसलिए इसकी गाथाओं का भावार्थ तैयार करके, यह शास्त्र आज प्रसिद्ध किया जाता है।

जीव अनादि से अपना स्वरूप नहीं जानता होने से समय-समय में वह अनन्त दुःख भोगता है। वह दुःख टालकर अनन्त सुख कैसे प्राप्त हो, वह इस शास्त्र में बतलाया है। इस शास्त्र में जो विषय लिये गये हैं, उनमें से कुछ यहाँ संक्षिप्त में दर्शाना आवश्यक है।

## आत्मा का स्वरूप

आत्मा का स्वरूप समझे बिना दुःख मिटता नहीं; इसलिए इसे समझने के लिये आत्मा का स्वरूप निम्नानुसार बतलाया है:—

आत्मा कैसा है? (1) सत्, (2) चैतन्य, (3) सर्वाभासरहित, (4) मोक्षस्वरूप, (5) अनन्त दर्शन-ज्ञानस्वरूप, (6) अव्याबाधस्वरूप, (7) शुद्ध, (8) बुद्ध, (9) चैतन्यघन, (10) स्वयंज्योति, (11) सुखधाम, (12) शुद्धचेतनारूप, (13) अजर-अमर, (14) अविनाशी, (15) देहातीतस्वरूप, (16) सिद्धिसम, (17) पर से भिन्न, (18) द्रव्य से नित्य, पर्याय से अनित्य, (19) निजभाव का कर्ता-भोक्ता।

इस प्रकार जो यथार्थ समझे, वह सिद्ध होता है (गाथा 43, 68, 101, 117, 120, 127, 135)

## जीव को क्या छोड़ना और क्या ग्रहण करना

आत्मा का स्वरूप समझने के लिये जीव को क्या छोड़ना और क्या ग्रहण करना, इस सम्बन्धी इस शास्त्र में क्या कहा है, वह अब बतलाया जाता है।

वस्तु की मर्यादा ऐसी है कि एक द्रव्य, उसके गुण और उसकी कोई पर्याय दूसरे किसी द्रव्य-गुण और पर्याय में प्रवेश नहीं पा सकते। यह अचलित वस्तुस्थिति की मर्यादा तोड़ना अशक्य है, इसलिए जीव को परद्रव्य का ग्रहण या त्याग कभी है ही नहीं। शुद्धता का ग्रहण और विकार का त्याग जीव से हो सकता है, इसलिए इस शास्त्र में वैसा करने के लिये निम्नानुसार बतलाया है—

❖ अपना पक्ष त्याग कर, श्री सद्गुरु आत्मस्वरूप का जो उपदेश देते हैं, उसकी समझण ग्रहण करना। (गाथा-9)

- ❖ जीव को स्वच्छन्द रोकना-त्यागना । (गाथा-15)
- ❖ स्वच्छन्द, मत, आग्रह का त्याग करना और श्री सद्गुरु के लक्ष्य से वर्तना । (गाथा-17)
- ❖ मतार्थी जीव बालव्रत ग्रहण करके अभिमान करता है परन्तु परमार्थ (आत्मा के सच्चे स्वरूप) को ग्रहण नहीं करता; इसलिए आत्मार्थी जीव को अज्ञान का त्याग करके परमार्थ ग्रहण करना । (गाथा-28)
- ❖ अज्ञान, राग-द्वेष से निवृत्त होना, वही मोक्ष के पंथ का ग्रहण है । (गाथा-100)
- ❖ मत और दर्शन का आग्रह और विकल्प छोड़ना और यहाँ कहे हुए मार्ग को ग्रहण करना । (गाथा-105)
- ❖ मत, दर्शन के आग्रह का त्याग और श्री सद्गुरु के लक्ष्य से वर्तने का फल शुद्ध सम्यक्त्व है । (गाथा-105)
- ❖ जो सम्यक्त्व को वर्धमान करे, उसे मिथ्याभास टलता है और उसे चारित्र प्रगट होता है, उसका फल वीतराग पदवास है । (गाथा-112)
- ❖ अनादि के विभाव का त्याग, सम्यग्ज्ञान के ग्रहण से होता है । (गाथा 114)
- ❖ जो अज्ञान को दूर करे (त्याग करे), वह निज पद निज में प्राप्त करता है । (गाथा 119)
- ❖ गाथा 43 में कहे गये छह पद को विस्तार से विचारने पर संशय का त्याग होता है । (गाथा-128)

**प्रश्न**— यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का ग्रहण नहीं कर सकता तो गाथा 82 में 'जीव जड़धूप (जड़कर्म) ग्रहण करे' ऐसा कहा है उसका कारण क्या ?

**उत्तर**— जीव के भावकर्म और जड़कर्म को कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं परन्तु मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, इतना बतलाकर भावकर्म नहीं करना, ऐसा समझाने के लिये यह गाथा रखी है; जीव जड़धूप का ग्रहण करता है, ऐसा वहाँ उपचार से कहा है । वह परमार्थ कथन नहीं है, जीव और जड़कर्म एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध से रहते हैं, इतना बतलाने के लिये वह उपचार किया गया है ।

### **सत्य पुरुषार्थ**

भवस्थिति, काललब्धि आदि के बहाने बनाने से आत्मार्थ छिदता है, इसलिए यह बहाने छोड़कर सत्य पुरुषार्थ करना चाहिए । (गाथा-130)

### व्यवहार करते-करते निश्चय नहीं होता

व्यवहार करते-करते निश्चय प्रगट होगा, ऐसा कितने ही अज्ञानी मानते हैं, परन्तु वह मान्यता मिथ्या है, ऐसा बतलाने के लिये गाथा-132 में कहा है कि निश्चय और व्यवहार दोनों साथ में होते हैं। गच्छ-मत की कल्पना, वह सद्व्यवहार नहीं है, ऐसा गाथा-133 में बतलाया है।

### भक्ति और पुण्य

इस पूरे शास्त्र में कहीं भी 'भक्ति' शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है। भक्ति दो प्रकार की है—(1) निश्चयभक्ति और (2) व्यवहारभक्ति। यह दोनों भक्ति सम्यग्दृष्टि को होती है। आत्मा का तथा सत्देव, सत्गुरु और सत्शास्त्र का सत्तास्वरूप बराबर न समझे, उसे सच्ची भक्ति नहीं होती, ऐसा बतलाने के लिये 'समझावण उपकार सो' इस पद से बतलाया है। (गाथा-12) अज्ञानी को भक्ति आभास (बाल भक्ति) होती है। व्यवहारभक्ति वह पुण्य-शुभभाव है। शुभभाव, वह धर्म नहीं परन्तु उसका छेद और शुद्धता, वह धर्म है, ऐसा गाथा-90 में बतलाया है।

### विनय

विनय के दो प्रकार हैं—(1) वीतरागी विनय और (2) सम्यग्दृष्टि को सराग विनय। गाथा 19 में पहले प्रकार का विनय बतलाया है, इस विनय में वन्द्य-वन्दक भाव नहीं होता। दूसरे प्रकार का विनय चौथे से छठवें गुणस्थान तक होता है, तत्पश्चात् नहीं होता, क्योंकि सातवें गुणस्थान में या उससे ऊपर की दशा में वन्द्य-वन्दक भाव नहीं होता। अज्ञानी को एक भी प्रकार का सच्चा विनय नहीं होता परन्तु विनयाभास अर्थात् बालविनय हो सकता है।

### स्वाध्याय करनेवालों को शिक्षा

उपरोक्त तथा दूसरे विषय जो इस शास्त्र में आते हैं, उनका भाव भलीभाँति समझकर स्वाध्याय करना। यदि ऐसा नहीं किया जाये और मात्र शब्द ही बोल लिये जायें तो आत्मा को धर्म का लाभ प्राप्त नहीं हो सकता। यह विशेष लक्ष्य में रखकर सच्चे धर्म का लाभ हो, उस प्रकार से इस शास्त्र का सावधानीपूर्वक स्वाध्याय करना चाहिए।

वीर संवत् 2480  
विक्रम संवत् 2010  
ई.सन् 1954

रामजी माणेकचन्द दोशी  
प्रमुख, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट  
सोनगढ़

# आत्मसिद्धि.

नडियाद, आसोज वद १, गुरुवार १९५२



श्रीमद् राजचन्द्र आत्मसिद्धि शास्त्र की रचना करते हुए।

## जीवन परिचय - श्रीमद् राजचंद्रजी

### जन्म तथा बाल्यावस्था

महान तत्त्वज्ञानियों की परम्परारूप इस भारतभूमि में गुजरात प्रदेश में सौराष्ट्र के ववाणिया ग्राम में विक्रम संवत् 1924, कार्तिक शुक्ल 15 (दिनांक 10-11-1867) रविवार के शुभ दिन, रात के दो बजे श्रीमद् राजचन्द्र का जन्म हुआ था। दशाश्रीमाली बनिया जाति में जन्म लेनेवाले श्रीमद् के पिता का नाम पंचाणभाई और माता का नाम देवबाई था। श्रीमद्जी बचपन में 'लक्ष्मीनन्दन', बाद में 'रायचन्द' और उसके बाद 'श्रीमद् राजचन्द्र' के रूप में प्रसिद्ध हुए।

श्रीमद्जी को बहुत छोटी आयु से ही आत्मिकसुख की तीव्र भावना थी और स्मरणशक्ति भी बहुत तेज थी। इनके पिताजी कृष्ण के भक्त थे, किन्तु माताजी को जैनधर्म के संस्कार थे; इसलिए घर में 'प्रतिक्रमण सूत्र' आदि की पुस्तकें पढ़ने मिलीं और जैनधर्म के प्रति प्रीति बढ़ने लगी। परिवार में दादाजी, माता-पिता, छोटे भाई मनसुखभाई और चार बहनें थीं।

### जातिस्मरणज्ञान

श्रीमद्जी की सात वर्ष की आयु थी, तब एक प्रसंग बना। ववाणिया में अमीचन्द नाम के एक गृहस्थ रहते थे। उन्हें श्रीमद्जी से विशेष प्रेम था। एक दिन सर्प के काटने से उनकी मृत्यु हो गई। यह बात सुनते ही श्रीमद्जी ने अपने दादा से पूछा कि 'मरण' का क्या मतलब होता है? दादाजी को लगा कि मरण की बात करने से बालक को डर लगेगा, इसलिए उन्होंने बात को टाल दिया, परन्तु श्रीमद्जी ने 'मरण' शब्द पहली बार सुना था, इसलिए उन्होंने बार-बार इसका अर्थ पूछा। तब दादाजी ने कहा कि अमीचन्द मर गये, इसका अर्थ यह है कि शरीर में से जीव निकल गया, अब उनका शरीर हलन-चलन नहीं कर सकेगा। इसलिए शरीर को तालाब के पास ले जाकर जला देंगे।

श्रीमद् ने तालाब के पास बबूल के पेड़ पर चढ़कर देखा तो दूर अमीचन्द का शरीर जलता हुआ दिखाई दिया और बहुत सारे लोग उसे घेरकर खड़े हुए थे। यह देखकर उन्हें विचार आया कि अरे! मनुष्य को जलाने में कितनी क्रूरता! यह विचार आते-आते उनका आवरण दूर हो गया और उन्हें पूर्व जन्म का जातिस्मरणज्ञान हो गया। उसके बाद जूनागढ़ का किला देखने के लिये गए, तब जातिस्मरणज्ञान में विशेष वृद्धि हुई।



## छोटी उम्र का पुरुषार्थ

श्रीमद्जी ने विद्यालय में विशेष पढ़ाई नहीं की थी, तो भी वे संस्कृत, प्राकृत और अन्य भाषाओं के जानकार थे। छोटी उम्र में ही उन्हें तत्त्वज्ञान का बोध हो गया था। यह एक काव्य से स्पष्ट होता है -

लघुवय थी अदभुत थयो, तत्त्वज्ञान नो बोध;  
ऐ ज सूचवे एम के, गति-अगति कां शोध?  
जे संस्कार थवो घटे, अति अभ्यासे कांय  
विना परिश्रम ते थयो, भवशंका शी त्यांय?

श्रीमद्जी बाल्यावस्था से ही आत्मा के अमरत्व और क्षणिकत्व के सम्बन्ध में बहुत तार्किक बुद्धि से विचार करते थे। उन्होंने जैनधर्म को कुल परम्परा से स्वीकार नहीं किया था, अपितु अपने तर्क बल से बाल्यावस्था में ही सत्यपने का निर्णय किया था। उन्होंने जैनधर्म के सिद्धान्तों को जीवन में अपनाया था और उसके बाद ही मुमुक्षुओं को अनुसरण का उपदेश देते थे।

## अवधान प्रयोग

श्रीमद्जी की स्मरणशक्ति अदभुत थी। उन्होंने छोटी आयु में ही अवधान प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया और धीरे-धीरे सौ अवधान तक पहुँच गये। विक्रम संवत् 1943 में 19 वर्ष की आयु में मुम्बई में शतावधान प्रयोग प्रतिष्ठित गृहस्थों और हाईकोर्ट के न्यायाधीश की उपस्थिति में किया, तब सभी देखनेवाले आश्चर्यचकित रह गये। अवधान सम्बन्धी समाचार 24-01-1887 के 'टाइम्स ऑफ इण्डिया', 'मुम्बई समाचार', जामे जमशेद 'गुजराती पायोनियर' आदि समाचार-पत्रों में सविस्तार प्रकाशित हुए थे। मुख्य न्यायाधीश सर चार्ल्स सारजंट ने उन्हें विदेश जाकर यह प्रयोग करने का आमन्त्रण दिया, परन्तु श्रीमद्जी को यश अथवा धन की बिलकुल इच्छा नहीं थी। इतना ही नहीं, पर यह प्रयोग आत्मकल्याण में बाधक है - ऐसा अनुभव होने पर उसके बाद उन्होंने यह प्रयोग कभी नहीं किया।

उनकी स्पर्शन शक्ति भी अत्यन्त विलक्षण थी और ज्योतिष विद्या में भी वे पारंगत थे।

## गृहस्थाश्रम

विक्रम संवत् 1944 महा शुक्ला 12 के दिन 19 वर्ष की आयु में पोपटलाल जवेरी की

सुपुत्री झबकबेन के साथ उनका विवाह हुआ। पूर्व कर्म का उदय समझकर श्रीमद्जी ने विवाह किया, परन्तु उनकी उदासीनता और वैराग्य बढ़ते ही गये। वे स्पष्टरूप से मानते थे कि 'कुटुम्बरूपी कोठरी में रहने से संसार बढ़ता है और एकान्त में रहने से जितने संसार का क्षय हो सकता है, उसका शतांश भी कुटुम्ब में रहने से नहीं हो सकता'। इस विषय में एक मुमुक्षु को पत्र में लिखा है कि 'जिसे संसार से स्पष्ट प्रेम करने की इच्छा है, उसने ज्ञानी के वचन सुने ही नहीं अथवा ज्ञानी के दर्शन भी किये ही नहीं - ऐसा तीर्थकर कहते हैं'।

श्रीमद्जी की चार सन्तान हुई - छगनभाई, जवलबेन, काशीबेन और रतिलाल।

### सफल व्यापारी

सज्जन व्यापारीपना और धर्मसाधना का योग शायद ही देखने में आता है। श्रीमद्जी का जवाहरात का व्यापार होने पर भी दुकान में कोई न कोई धार्मिक पुस्तक और उसकी नोट-बुक सदा साथ रहती थी। व्यापार की बात पूरी होते ही वे शास्त्र पढ़ने बैठ जाते थे अथवा कई विचार अपनी नोट-बुक में लिख लेते थे। जिज्ञासु/मुमुक्षुओं को लिखे खत के अलावा जो उनके लेखों का प्रकाशन हुआ है, उसमें से अधिकांश भाग नोट-बुक में से लिये गये हैं।

श्रीमद्जी विश्वासपात्र व्यापारी के रूप में प्रसिद्ध थे और उनका व्यवहार भी बहुत ही प्रामाणिक था। वे बहुत सन्तोषी थे। धन या हीरे को वे कंकर ही समझते थे। उनकी सज्जनता के कई उदाहरण हैं। जैसे कि एक आरब के व्यापारी को नुकसान न हो, इसलिए व्यापारिक समझौते को रद्द कर दिया। दूसरे एक प्रसंग में एक व्यापारी को हीरा के सौदे में कीमत बहुत बढ़ जाने से बहुत ही नुकसान हो रहा था, तभी उन्होंने सौदे का कागज ही फाड़ते हुए कहा कि : 'राजचन्द्र दूध पी सकता है, खून नहीं।'।

### कवि-लेखक

श्रीमद्जी में अपने विचारों की अभिव्यक्ति पद्य में करने की सहज क्षमता थी। उनकी मुख्य आध्यात्मिक काव्य रचनाओं में - वैराग्यबोधिनी बारह भावना, तृष्णा की विचित्रता, अमूल्य तत्त्व विचार (17 वर्ष), मूल मार्ग रहस्य (21 वर्ष), जिनवाणी स्तुति, भक्ति के 20 दोहे (24 वर्ष), आत्मसिद्धि शास्त्र (29 वर्ष), परमपद प्राप्ति की भावना - अपूर्व अवसर (30 वर्ष) आदि प्रमुख हैं।

142 दोहे रूप अलौकिक 'आत्मसिद्धि शास्त्र' श्री रचना श्री सौभाग्यभाई के कहने पर और सभी मुमुक्षुओं के सद्भाग्य से आसो कृष्णा 1, विक्रम संवत् 1942, नडियाद में मात्र डेढ़ घण्टे में पूर्ण की थी। उसमें आत्मा की सिद्धि का मार्ग उन्होंने दर्शाये हैं। 'आत्मा है, वह नित्य है, वह कर्ता है, वह भोक्ता है, मोक्ष है और मोक्ष का उपाय है - इन छह पद की श्रद्धा यदि ज्ञानीपुरुष के अभिप्राय से जीव करे, अर्थात् ज्ञानीपुरुष जिसे 'यथार्थ श्रद्धा' के रूप में स्वीकार करें - ऐसी सर्व ओर से अविरोद्ध श्रद्धा करे तो सम्यग्दर्शन को प्राप्त करके परद्रव्य और परभावों से भिन्नता का अनुभव करके, इष्ट-अनिष्ट वृत्तियों से विराम लेकर, सर्व दुःखों से मुक्त हो' - यह आत्मसिद्धि शास्त्र का तात्पर्य है। पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने राजकोट में विक्रम संवत् 1995 में आत्मसिद्धि शास्त्र पर अपूर्व प्रवचन किये थे, जो कि पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए हैं। मुमुक्षुओं को लिखे हुए उनके पत्र बहुत ही गहराई और रहस्यों से भरे हुए हैं। श्रीमद्जी ने अन्य मत का निराकरण भी सुन्दर और स्पष्टरूप से किया है। महात्मा गाँधी ने भी दक्षिण अफ्रीका से श्रीमद्जी के साथ पत्र व्यवहार करके बहुत स्पष्टीकरण प्राप्त किया था।

### एकान्त चर्या

मोहमयी मुम्बई नगरी में रहते हुए भी श्रीमद्जी की ज्ञानाराधना निरन्तर चल रही थी। क्योंकि यह उनका मुख्य और अनिवार्य कार्य था। उद्यमरत जीवन में शान्त और स्वस्थ चित्त से एकान्त में आत्मारोधना करना उनके लिए सहज हो गया था। किन्तु समय मिलते ही वे जंगल या पर्वतों के एकान्त स्थानों में पहुँच जाते थे। गुजरात के चरोतर, ईडर आदि अनेक क्षेत्रों में उनका विचरण हुआ था।

### वीतराग वाणी का आदर

श्रीमद्जी को वीतराग देव-शास्त्र-गुरु के प्रति बहुत आदर था। जिनेश्वर की वाणी की महिमा करते हुए श्रीमद्जी लिखते हैं :

अनंत भाव भेदथी भरेली भली, अनंत अनंत नयनिक्षेपे व्याख्यानी छे।  
सकल जगत हितकारिणी, हारिणी मोह, तारिणी भवाब्धि, मोक्षचारिणी प्रमाणी छे।।  
रूपमा आप्यानी जेने तमा राखवी ते व्यर्थ, आपवाथी निज मति मपाई मैं मानी छे।  
अहो राजचन्द्र ! बाल ख्याल नथी पामता ए, जिनेश्वरतणी वाणी जाणी तेणे जाणी छे।।

श्रीमद् राजचन्द्रजी दिगम्बर सन्तों को नमस्कार करते हुए लिखते हैं कि 'हे कुन्दकुन्द



आचार्य ! आपके वचन भी स्वरूप के अनुसन्धान के विषय में इस पामर को उपकारभूत हुए हैं। इसके लिए मैं आपको अतिशय भक्ति से नमस्कार करता हूँ।' इस तरह गुणों का बहुमान, सत्कार और विनय किया है।

### सम्यग्दृष्टि आत्मा

श्रीमद्जी को शुद्ध सम्यग्दर्शन की प्राप्ति विक्रम संवत् 1947 में 24 वर्ष की आयु में हुई। अपनी ही 'हाथनोंध' में लिखते हैं -

ओगणीससे ने सुडतालीसे समकित शुद्ध, प्रकाश्यूरै;  
श्रुत अनुभव वधती दशा, निज स्वरूप अवभास्यूरै।  
धन्य रे दिवस आ अहो !

विक्रम संवत् 1996, कार्तिक शुक्ला 15 को एकावतारी पवित्र पुरुष श्रीमद्जी की जन्म जयन्ती के प्रसंग पर बहुमानपूर्वक भावांजलि देते हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने ये शब्द कहे थे - 'तीर्थकर भगवन्त का देह परम औदारिक, स्फटिक रत्न जैसी हो जाती है और पास से दर्शन करनेवाले को जातिस्मरणज्ञान हो जाता है एवं उसके सात भव दिखाई देते हैं। ऐसे प्रभु का जन्म दिन महाकल्याणक कहलाता है। 'जो तीन लोक के नाथ' ऐसे पद के धारक हैं, उनका परम कल्याणक जन्मोत्सव इन्द्र मनाते हैं और तीन लोक में खुशहाली छा जाती है। दो घड़ी के लिए नरक के दुःखी जीवों को भी शान्ति का अनुभव होता है। उसी प्रकार जिसने यह पंचम काल में सत्य को प्रसिद्ध किया और अपने अनन्त भवों का अन्त करके एक ही भव बाकी रहे - ऐसी पवित्रदशा अपने आत्मा में प्रगट की - ऐसे पवित्र पुरुष का अधिक से अधिक बहुमान होना चाहिए। उनके जन्म दिवस की आज जयन्ती है। धन्य हैं उन्हें! मैं निश्चितरूप से कहता हूँ कि गुजरात-काठियावाड़ में (सौराष्ट्र में) वर्तमान काल में मुमुक्षु जीवों का कोई परम उपकारी है तो वे श्रीमद् राजचन्द्र है। उन्होंने गुजराती भाषा में आत्मसिद्धि लिखकर जैन शासन की शोभा बढ़ाई है। इस काल में उनके जैसा महान पुरुष मैंने नहीं देखा।' उनके एक-एक वचन में गहरा रहस्य है। यह सत्समागम के बिना समझ में नहीं आ सकता। उन्होंने एक ही मुख्य बात कही है कि आत्मा की पहचान किये बिना कुछ भी करो परन्तु भव नहीं कम हो सकते। आत्मा को समझे बिना किसी काल में भी छुटकारा नहीं। आज, कल, लाख, करोड़ वर्ष बाद भी या कभी भी यह तत्त्व समझे - श्रद्धा करे तो ही छुटकारा है। श्रीमद्जी

का जीवन समझने के लिए मताग्रह-दुराग्रह से दूर रहकर वह पवित्र जीवन को मध्यस्थपने देखना चाहिए, ज्ञानी की विशाल दृष्टि के न्याय से विचार करना चाहिए। उनकी भाषा में अपूर्व भाव भरा है। उसमें वैराग्य, उपशम, विवेक, सत्समागम – सब कुछ है। वे बालक से लेकर आध्यात्मिक सत्स्वरूप की पराकाष्ठा तक पहुँचे थे। गहरे से गहरा न्याय व गम्भीर अर्थ उनकी लेखनी में है। व्यवहार नीति से लेकर पूर्ण शुद्धता – केवलज्ञान तक का कथन उसमें है। कोई ज्ञानबल के अपूर्व योग से यह लिखा गया है। उनके हृदय में वीतराग शासन की प्रभावना हो, सनातन जैन धर्म जयवन्त वर्ते, ऐसे निमित्त होने की गहराई में भावना थी; पर उस समय मताग्रही लोगों का समूह अधिक था, और गृहस्थ वेश होने से उनके पास जाने में और परमार्थ प्राप्त करने में बाह्य दृष्टिवाले जीवों को अपने पक्ष का आग्रह विघ्नरूप हुआ था।

श्रीमद्जी को उस समय के द्रव्य, क्षेत्र, काल की जानकारी थी, इसलिए प्रसिद्धि में नहीं आये। उन्होंने कहा है कि मेरा लेखन, मेरा शास्त्र मध्यस्थ पुरुष ही समझ सकते हैं, विचार कर सकते हैं। महावीर के कोई एक भी वाक्य को यथार्थरूप से समझो। शुद्ध अन्तःकरण के बिना वीतराग के वचनों को कौन स्वीकार करेगा? यह सब अन्तर के उदगार थे। वर्तमान में श्री समयसारजी परमागम शास्त्र पर प्रवचन हो रहे हैं, उसकी प्रभावना करनेवाले भी श्रीमद् राजचन्द्र थे। अपनी उपस्थिति में ही उन्होंने 'परमश्रुत प्रभावक मण्डल' की स्थापना की थी। उनका उद्देश्य महान आचार्यों के आगम शास्त्रों को संशोधित करके प्रकाशित करवाने का था। उस मण्डल ने 19 वर्ष पहले आचार्यवर कुन्दकुन्द भगवान द्वारा रचित महासूत्र समयसारजी शास्त्र की एक हजार प्रतियाँ प्रकाशित की थीं। वह शास्त्र (हाथ से लिखा हुआ) जब उनके हाथ में (लींबडी में) पहली बार आया तब दो पृष्ठ पढ़ते ही रूपयों से भरी हुई थाली मँगाई। जैसे हाथ में हीरा आने पर जौहरी उसकी परीक्षा करता है, वैसे ही पूरे जिनशासन का रहस्य श्री समयसार हाथ में आते ही पूर्व के संस्कार के अपूर्व भाव जाग उठे और वह अपूर्व परमागम शास्त्र लानेवाले भाई को श्रीमद्जी ने दोनों हाथ भरकर रुपया दे दिया। इस पुस्तक को प्रकाशित करने की उनकी अतीव भावना थी। इस तरह 19 वर्ष पूर्व श्री समयसार की प्रभावना उनके निमित्त से हुई। वर्तमान में काठियावाड़ में इस परमागम का भलीभाँति लाभ लिया जा रहा है। इस समयसार के रचयिता श्री कुन्दकुन्द आचार्य महासमर्थ दिगम्बर मुनि थे। वे इस काल में स्वयं महाविदेहक्षेत्र में साक्षात् त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ भगवान सीमन्धर प्रभु के पास गये थे। वहाँ उन्होंने आठ दिन तक समवसरण में भगवान की वाणी सुनी थी। वहाँ से आकर समयसार की

श्लोकबद्ध रचना की। उसी समयसार शास्त्र की वर्तमानकाल में सर्व प्रथम प्रसिद्धि करनेवाले श्रीमद् राजचन्द्र हैं। इसलिए उनका अनन्त उपकार है। समयसार का लाभ अभी अनेक भाई-बहिन ले रहे हैं, यह श्रीमद् का ही उपकार है। अभी समयसार की दो हजार प्रतियाँ गुजराती में छप रही हैं। इसका लाभ लेनेवालों को भी श्रीमद् उपकारी है।

### अन्तिम समय

विक्रम संवत् 1956में श्रीमद्जी ने सर्व व्यवहार से निवृत्ति लेकर सर्व संग परित्यागरूप दीक्षा लेने के लिए माता के पास अनुमति भी ले ली थी परन्तु उनकी शारीरिक अवस्था दिन-प्रतिदिन बिगड़ती गई। अनेक उपचार कराने के बावजूद भी वे स्वस्थ नहीं हुए। उन्होंने अपने छोटे भाई मनसुखभाई से कहा - 'भाई मनसुख! दुःखी मत हो, मैं अपने आत्मस्वरूप में लीन हो रहा हूँ।' इस तरह श्रीमद्जी चैत्र कृष्णा 5, मंगलवार को दोपहर दो बजे राजकोट में समाधि में लीन हुए।

### श्रीमद्जी का अन्तिम सन्देश :

सुख धाम अनन्त सुसंत चही,  
दिन रात रहे तदध्यान महीं;  
पर शांति अनंत सुधामय जे,  
प्रणमुं पद ते, वर ते, जय ते।

राजकोट, चैत्र शुक्ल 9, 1957

श्रीमद् ने अन्ति सन्देश में 'वर ते जय ते' इन शब्दों का प्रयोग किया है। इसका अर्थ यह है कि साधक स्वभाव की जयकार है। इन शब्दों में बहुत गम्भीर भाव भरा है। पूर्ण शुद्ध ऐसा चैतन्यघन आत्मा भेदज्ञान के बल द्वारा जागृत होता है और उस जाति का उग्र पुरुषार्थ होने पर पूर्ण सुखस्वरूप प्रगट होता है। जिसे मुनि आदि धर्मात्मा अर्थात् योगीजन चाहते हैं, उस पूर्ण स्वरूप के लक्ष्य से श्रीमद् राजचन्द्रजी ने अन्तिम सन्देश कहकर मुमुक्षुओं के प्रति परम उपकार किया है। स्वयं समाधिमरण की घोषणा में 'वर ते जय ते' ऐसा कहकर (जैसे कोई शास्त्र पूर्ण करते हुए पूर्ण मांगलिक करे वैसे ही श्रीमद् ने इस काव्य रचना में) अन्तिम मांगलिक किया है। अपना स्वाधीन शिव सुख प्रगट करने के लिए सबसे पहले स्वरूप की श्रद्धा करो, उसे ही जानो, उसका ही अनुभव करो - ऐसा कहा है।



परमपूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी



## अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

( संक्षिप्त जीवनवृत्त )

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 - ईस्वी) प्रातःकाल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के हार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्रायः प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

( xiii )

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में ( अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970 ) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक – इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको निःशंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अतः अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 ( दिनांक 16अप्रैल 1935 ) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं

घोषित किया कि अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ। सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अतः भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल 'श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर' का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) आत्मधर्म नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र श्री सद्गुरु प्रवचनप्रसाद ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वी सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वी सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वी सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ,



भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय ( वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980 ) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्णपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!



## श्रीमद् राजचन्द्र एवं आत्मसिद्धि शास्त्र के विषय में पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के हृदयोद्गार



अनन्त काल से आत्मा के नाम से स्वच्छंद एवं मताग्रह से बाहर का सब कुछ किया है, अतः श्रीमद् ने निष्कारण करुणा से आत्मार्थी जीवों के हित के लिये आत्मसिद्धि शास्त्र की रचना की है। (पृष्ठ संख्या-60)



श्रीमद्जी को वर्तमान में कोई गुरु नहीं थे; पूर्वभव के संस्कार थे। वे कहते थे कि—अहो! वह हृदय, वह एकान्त स्थल, सत्पुरुषों के वृन्द, सत्समागम और वह निवृत्ति के स्थान, ज्ञानी के विहार (विचरण) के स्थान! उनको धन्य है। प्रवृत्ति में रहते हुए भी उनको ये सब बारम्बार याद आ जाते थे।

वे दुकान में नहीं बैठे थे, किन्तु आत्मा में (ज्ञान में) बैठे थे। उन्हें अपने हृदय में सत्समागम का महत् बहुमान था। (पृष्ठ संख्या-73)



सच्चा अध्यात्म क्या है? सौराष्ट्र में इसे यथार्थ समझानेवाले यदि कोई हैं तो वे वर्तमानकाल में श्रीमद् राजचन्द्र थे। ...श्रीमद्जी का विशाल हृदय व उज्ज्वल अंतःकरण जो समझना चाहता है, उसे (पहले) अपने अन्दर पात्रता प्रगट करनी होगी। (पृष्ठ संख्या-87)



श्रीमद्जी ने स्वयं ही शिष्य की जिज्ञासा की हू-ब-हू रचना की है, और हृदय में आर-पार उतर जाये, ऐसी हृदयवेधक भाषा में संवाद की रचना की है। (पृष्ठ संख्या-292)



श्रीमद्जी ने ऐसी अपूर्व घटना की रचना की है कि उसमें कोई अंग बाकी न रह जाये। इस प्रकार संक्षेप में सत् तत्त्व को जाहिर किया है। अनन्त काल में अज्ञानभाव से जो भटकना हुआ, उस अज्ञानभावरूप मूल का छेदन जिस भाव से किया, उस भाव से सद्गुरु को नमस्कार करके मांगलिक किया है। गुजरात-सौराष्ट्र में आत्मतत्त्व की ऐसी स्पष्ट बात गुजराती भाषा में करके, अध्यात्मशास्त्र बनाया, इससे भव्य जीवों पर बहुत उपकार हुआ है। हजारों जीव उस

कृपा-प्रसाद से आत्मशान्ति की भावना भाते हैं। श्रीमद्जी ने बालवय में पूर्वजन्म के बलवान संस्कार द्वारा आत्मा की गुंजार जाहिर की है। उनका जीवनचरित्र बहुत उत्कृष्ट था। 'आत्मसिद्धि' में अध्यात्मतत्त्व का बहुत गहरा रहस्य भरा है। (पृष्ठ संख्या-346)

\* \* \*

उन समर्थ पवित्र आत्मा की (श्रीमद्जी की) देह की स्पर्शना इस भूमि से हुई है। वे अनंत भव का अभाव कर गये हैं। वह अपूर्व भाव कैसा होगा कि जिस भाव से अनन्त भाव का अभाव होकर एक ही भव के बाद मोक्ष जानेवाले हैं? (पृष्ठ संख्या-349)

\* \* \*

जो बात (आत्मस्वरूप का सच्चा न्याय) अनन्त ज्ञानी सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा कह गये हैं, वही बात श्रीमद् राजचन्द्रजी भी कह गये हैं। (पृष्ठ संख्या-406)

\* \* \*

श्रीमद् राजचन्द्रजी जवाहरात की दुकान पर बैठे हुए दिख रहे थे, फिर भी हर पल मोक्ष के निकट जा रहे थे। लोग बाहर से देखे तो अन्य कुछ दिखे। गृहस्थवेश में ज्ञानी को पहिचानना बाह्यदृष्टि जीवों को मुश्किल पड़ता है। (पृष्ठ संख्या-411)

\* \* \*

जिन्होंने इस पंचम काल में सत्धर्म की घोषणा की, और खुद ने अनन्त भव का अन्त करके, एक ही भव बाकी रहे ऐसी पवित्र दशा आत्मा में प्रगट की, ऐसे पवित्र पुरुष का अति-अति बहुमान होना चाहिए। उनके जन्मदिन की आज जयन्ती है, धन्य है उनको! मैं निश्चितरूप से कहता हूँ कि गुजरात-काठियावाड में (सौराष्ट्र में) वर्तमान काल में मुमुक्षु जीव को परम उपकारी कोई हैं, तो वे श्रीमद् राजचन्द्रजी हैं। गुजराती भाषा में 'आत्मसिद्धि' लिखकर जैनशासन की शोभा में अभिवृद्धि की है। इस काल में उनके समान महान-पुरुष मैंने देखे नहीं हैं। उनके एक-एक वचन में गहरा रहस्य है। वह सत्समागम के बिना समझ में आये ऐसा नहीं है। (पृष्ठ संख्या-564)

\* \* \*

श्रीमद्जी का जीवन समझने के लिये मताग्रह से—दुराग्रह से दूर रहकर, उनके पवित्र जीवन को मध्यस्थतापूर्वक देखना चाहिए, ज्ञानी की विशाल दृष्टि के न्याय से सोचना चाहिए।

उनकी भाषा में अपूर्व भाव भरे हैं, उसमें वैराग्य, उपशम, विवेक, सत्समागम सब कुछ हैं। बालक से लेकर आध्यात्मिक सत्स्वरूप की पराकाष्ठा तक की पहुँचवाले अत्यन्त गहन न्याय, गम्भीर अर्थ उनके लेख में हैं। ... उनके अन्तर में वीतराग शासन की प्रभावना हो, सनातन जैनधर्म जयवन्त रहे, इसके लिये निमित्त होने की भावना अन्तर की गहराई में थी।

(पृष्ठ संख्या-565)



आजकल श्री समयसारजी परमागम शास्त्र पढ़ा जा रहा है, उसकी प्रभावना करनेवाले श्रीमद् राजचन्द्रजी थे, अपनी मौजूदगी में ही उन्होंने परमश्रुत प्रभावक मण्डल की स्थापना की। उनका उद्देश्य, महान आचार्यों के आगम-शास्त्र संशोधित करके छपवाने का था। उस मण्डल ने उन्नीस वर्ष पूर्व, एक हजार समयसारजी शास्त्र—आचार्यवर कुन्दकुन्द भगवान रचित महासूत्र छपवाये। वह शास्त्र (हस्तलिखित) जब सर्व प्रथम (लींबडी नगर में) उनके हाथ में आया, तब दो पृष्ठ पलटते ही रुपयों से भरी थाली मँगवाई, जिस प्रकार हाथ में हीरा आ जाये, उसकी परीक्षा जौहरी करे, उस प्रकार समस्त जिनशासन के रहस्यरूप श्री समयसारजी हाथ में आते ही, पूर्व के संस्कारों का अपूर्व भाव उल्लसित हुआ, और इस अपूर्व परमागम शास्त्र लानेवाले भाई को श्रीमद्जी ने अंजलि भरके रुपये दिये। यह पुस्तक छपे ऐसी उनकी खास इच्छा थी। इस प्रकार 19 वर्ष पूर्व श्री समयसारजी की प्रभावना उनके द्वारा हुई। इस परमागम शास्त्र का लाभ वर्तमान में काठियावाड़ (प्रदेश) में काफी मात्रा में लिया जा रहा है। इस समयसारजी के कर्ता श्री कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर (नग्न) महासमर्थ मुनि थे। वे इस काल में स्वयं महाविदेहक्षेत्र में, साक्षात् त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ भगवान सीमन्धर प्रभु के पास गये थे, वहाँ उन्होंने आठ दिन तक समवसरण (धर्मसभा) में भगवान की वाणी सुनी। वहाँ से आकर समयसार ग्रन्थ की श्लोकबद्ध रचना की, उस समयसार शास्त्र की इस काल में प्रथम प्रसिद्धि करनेवाले श्रीमद् राजचन्द्रजी हैं, अतः उनका अनंत उपकार है। इसका लाभ वर्तमान में बहुत से भाई-बहिन ले रहे हैं, यह श्रीमद्जी का ही उपकार है। वर्तमान में उसकी दो हजार प्रति गुजराती में छप रही हैं। इसका लाभ लेनेवाले के लिये श्रीमद्जी ही उपकारी माने जायेंगे।

(पृष्ठ संख्या-565)





श्रीमद् राजचन्द्रजी ने 'आत्मसिद्धि' की रचना संवत् 1952 में की। उसको आज 43वाँ वर्ष चल रहा है। उसमें छह पद की सर्वांगता बहुत प्रकार से लेकर गुरु-शिष्य के संवादरूप अद्भुत रचना की है; उसमें आत्मतत्त्व का यथार्थ निरूपण किया है। (पृष्ठ संख्या-346)



त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ भगवान के कथन का रहस्य इस प्रथम गाथा में है। अमृतस्वरूप भगवान आत्मा का अपूर्वभाव—अध्यात्म अमृतरस श्रीमद्जी ने 1952 की साल में बरसाया। पूर्ण केवलज्ञान पर दृष्टि लगाके यह 'आत्मसिद्धि' लिखी है। (पृष्ठ संख्या-349)



श्रीमद्जी ने जो बीज बोये हैं, उसका फल वर्तमान में आ रहा है। इससे बहुत-से पात्र जीव शान्ति-समाधि के भाव द्वारा आत्मबल प्राप्त करते हैं। यह आत्मसिद्धि मुमुक्षु के हृदय की अमृतबेल है। (पृष्ठ संख्या-352)



गुजराती भाषा में 'आत्मसिद्धि' की अपूर्व रचना की है। सभी घरों में इसका प्रचार होना चाहिए। जो कहा गया है वह बहुत से जीवों को उपकार का निमित्त होवे ऐसा सरल है। भादों शुक्ला सातम से इसके व्याख्यान (प्रवचन) शुरु किये हैं, जिसे आज 72 दिन हुए हैं। इसमें निष्पक्षपाततापूर्वक सब कुछ कहा गया है। लोग मध्यस्थ होकर विचारपूर्वक बारम्बार इसका घोलन करें तो उन्हें आत्मख्याति (आत्मसिद्धि) हुए बिना नहीं रहे। उत्तम भोजन से भरा हुआ थाल मिले और भूखा रह जाये वह जीव दुर्भागी है। कई तरह से बात कही गयी है। कुलधर्म का आग्रह इत्यादि बहुत से विरोध मिटाकर अविरोध तत्त्व को समझने की यह अपूर्व रचना निमित्त है। इसमें सरल भाषा में विस्तारपूर्वक बहुत कहा गया है। किसी धर्मी, पुण्यवंत आत्मार्थी जीवों के भाग्यवश यह अपूर्व योग हुआ है। (पृष्ठ संख्या-615)



ॐ

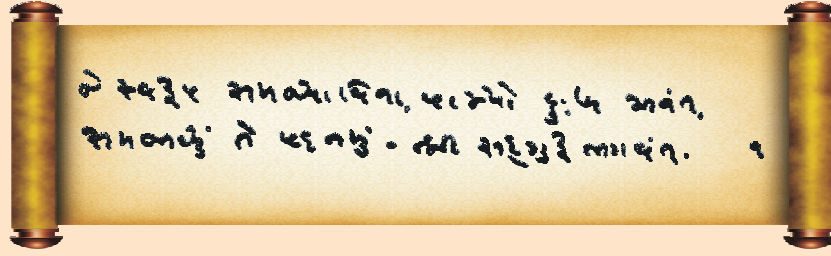
श्री परमात्मने नमः

श्रीमद् राजचन्द्र प्रणीत

# श्री आत्मसिद्धि शास्त्र

(सरलार्थ और संक्षिप्त प्रवचन परिशिष्ट सहित)

(मंगलाचरण)



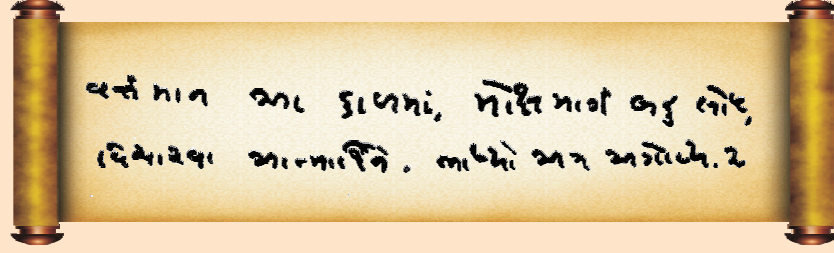
जे स्वरूप समझ्या विना, पाय्यो दुःख अनंत;  
समजाव्युं ते पद नमुं, श्री सद्गुरु भगवंत ॥१॥

जो स्वरूप समझे बिना, पायो दुःख अनन्त ।  
समझायो तत्पद नमुं, श्री सद्गुरु भगवन्त ॥१॥

अन्वयार्थ - ( जे ) जो ( स्वरूप ) अपने आत्मा का स्वभाव है, ( समझ्या विना ) उसे समझे बिना, ( दुःख अनंत ) मैंने अपार दुःख ( पाय्यो ) भोगा है । ( ते पद ) उस आत्मा की ( समझाव्युं ) समझ जिन्होंने दी है, ऐसे ( श्री सद्गुरु ) आत्मलक्ष्मीवन्त ज्ञानी गुरु ( भगवंत ) भगवान को मैं ( नमुं ) नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

सरलार्थ— जो अपने आत्मा का स्वभाव है, उसे समझे बिना मैंने अपार दुःख भोगा है । जिन्होंने उस आत्मस्वभाव की समझ प्रदान की है, ऐसे आत्मलक्ष्मीवन्त ज्ञानी गुरु भगवन्त को मैं नमस्कार करता है ।

## वर्तमान परिस्थिति



वर्तमान आ काळमां, मोक्षमार्ग बहु लोप;  
विचारवा आत्मार्थिने, भाख्यो अत्र अगोष्य ॥२॥

वर्तमान इस काल में, मोक्षमार्ग अति लुप्त।  
विचारने आत्मार्थी को, कहता यहाँ अगुप्त ॥२॥

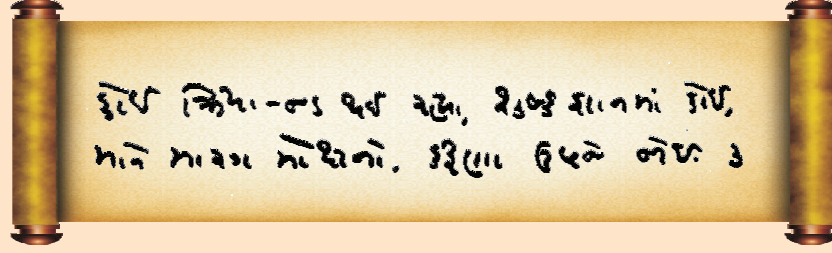
---

अन्वयार्थ - ( आ ) इस ( वर्तमान ) प्रवर्तमान / चालू ( काळमां ) काल में  
( मोक्षमार्ग ) आत्मा की पवित्रता का मार्ग ( बहु लोप ) बहुत ही लुप्त हो गया है, इसलिए  
( आत्मार्थिने ) आत्मा के अर्थी जीव को ( विचारवा ) विचार करने के लिए ( अत्र ) यहाँ  
( अगोष्य ) प्रगट ( भाख्यो ) कहा है ॥२॥

सरलार्थ—इस प्रवर्तमान काल में आत्मा की पवित्रता का मार्ग अत्यधिक  
आच्छादित हो गया है। इसलिए आत्मा के अर्थी जीव को विचार करने के लिये यहाँ प्रगट  
कहा गया है।



## अज्ञानी की दशा, ज्ञानियों की करुणा



कोई क्रियाजड थई रह्या, शुष्कज्ञानमां कोई;  
माने मारग मोक्षनो, करुणा उपजे जोई ॥३॥

कोई क्रिया-जड़ हो रहे, शुष्क ज्ञान में कोई।  
माने मारग-मोक्ष का, करुणा देखत होई ॥३॥

अन्वयार्थ—( कोई ) कितने ही जीव ( क्रिया ) शरीर की और पुण्य की क्रिया में ही, ( जड़ ) जड़ जैसे हो रहे हैं और ( कोई ) कितने ही ( शुष्क ) कोरी / रूखी ( ज्ञानमां ) ज्ञान की वार्ता में ( थई रह्या ) लग रहे हैं, और उसे ( मारग मोक्षनुं ) पवित्र होने का मार्ग। ( माने ) मानते हैं, वह ( जोई ) देखकर ज्ञानियों को ( करुणा ) दया ( उपजे ) आती है ॥३॥

सरलार्थ—कितने ही जीव शरीर और पुण्य की क्रिया में ही, जड़ जैसे हो रहे हैं और कितने ही मात्र शुष्क ज्ञान की बातों में लग रहे हैं और उसे पवित्र अर्थात् मुक्त होने का मार्ग मानते हैं। अज्ञानियों की यह दशा देखकर ज्ञानियों को करुणा उत्पन्न होती है।

## कौन है क्रिया जड़ ?

बाह्य क्रियामां राचता, अंतर भेद न कांई,  
ज्ञानमार्ग निषेधता, तेह क्रियाजड आंई ॥४॥

बाह्य क्रियामां राचता, अंतर्भेद न कांई;  
ज्ञानमार्ग निषेधता, तेह क्रियाजड आंई ॥४॥

बाह्य क्रिया में मगन हैं, अन्तर भिदा न कोई।  
ज्ञान-मार्ग निषेध कर, क्रिया-जड़ वह होई ॥४॥

अन्वयार्थ— जो ( बाह्य क्रियामां ) शरीर और पुण्य की क्रिया में ही ( राचता ) प्रसन्न / मगन होते हैं और ( अन्तरभेद ) ज्ञान और विकार के बीच का अन्तर ( न कांई ) जानते नहीं और ( ज्ञानमार्ग ) आत्मज्ञान के मार्ग का ( निषेधता ) जोर से निषेध करते हैं, ( तेह ) ऐसे जीवों को ( आंही ) शास्त्र में ( क्रियाजड़ ) 'क्रियाजड़' कहे हैं ॥४॥

सरलार्थ— जो शरीर और पुण्य की क्रिया में ही प्रसन्न / मगन होते हैं तथा ज्ञान और विकार के बीच का अन्तर नहीं जानते और आत्मज्ञान के मार्ग का जोर से निषेध करते हैं, ऐसे जीवों को शास्त्र में 'क्रियाजड़' कहा है।

## कौन है शुष्कज्ञानी ?

बन्ध मोक्ष छे कल्पना, भाखे वाणी मांहि,  
वर्ते मोहावेशमां, शुष्कज्ञानी ते आंहि. ॥५॥

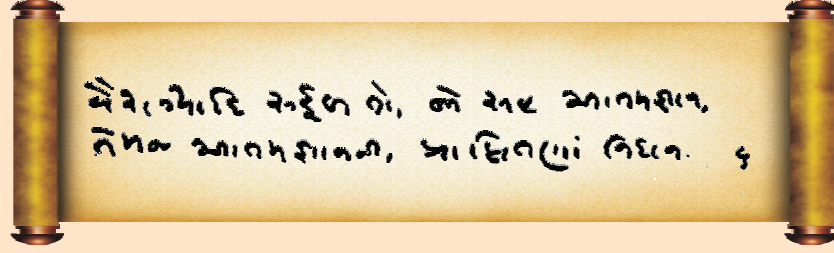
बन्ध मोक्ष छे कल्पना, भाखे वाणी मांहि;  
वर्ते मोहावेशमां, शुष्कज्ञानी ते आंहि ॥५॥

बन्ध-मोक्ष है कल्पना, कहते वाणी मांहि ।  
रहते मोहावश में, जो शुष्क-ज्ञानी कहांहि ॥५॥

अन्वयार्थ—( बन्ध ) बन्धन और ( मोक्ष ) मुक्ति ( कल्पना छे ) स्वभाव में नहीं, ऐसा मात्र ( वाणी मांहि ) वचनों में ( भाखे ) कहा करते हैं, परन्तु ( मोहावेशमां ) स्वरूप की नासमझ में ( वर्ते ) वर्तते हैं, उन्हें ( शुष्कज्ञानी ) 'शुष्क ज्ञानी'—रूखे ज्ञानी ( ते आंहि ) शास्त्र में कहे हैं ॥५॥

सरलार्थ—बन्धन और मुक्ति कल्पना है, स्वभाव में नहीं, ऐसा मात्र वचनों में कहा करते हैं, परन्तु स्वरूप की नासमझ में वर्तते हैं, उन्हें 'शुष्क ज्ञानी'—रूखा ज्ञानी शास्त्र में कहा है ।

## वैराग्यादि की सफलता कब ?



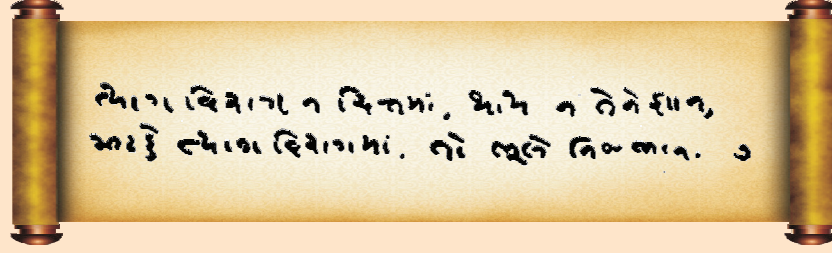
वैराग्यादि सफल तो, जो सह आत्मज्ञान;  
तेम ज आत्मज्ञाननी, प्राप्तियां निदान ॥६॥

वैराग्यादि सफल हैं, यदि सह आत्म-ज्ञान।  
अरु वह आत्म-ज्ञान की, प्राप्ति हेतु निदान ॥६॥

अन्वयार्थ—( वैराग्यादि ) राग का घटाना—त्याग इत्यादि ( जो ) यदि ( सह ) साथ में ( आत्मज्ञान ) आत्मा की सच्ची पहिचान हो, ( ते ) तो ही ( सफल ) सच्चे फल देनेवाले हैं, ( तेम ज ) तथा ( आत्मज्ञाननी ) आत्मा के सच्चे ज्ञान को ( प्राप्तियां निदान ) समझने के हेतु के लिये हो तो ( सफल ) धर्म का फल देनेवाले हैं ॥६॥

सरलार्थ—राग का घटाना, त्याग इत्यादि के साथ यदि आत्मा की सच्ची पहिचान हो तो ही सच्चे फल देनेवाले हैं, तथा वह आत्मा के सच्चे ज्ञान को समझने के हेतु हों, तो धर्म का फल देनेवाले हैं।

## त्याग-वैराग्य की सफलता-असफलता



त्याग विराग न चित्तमां, थाय न तेने ज्ञान;  
अटके त्याग विरागमां, तो भूले निजभान ॥७॥

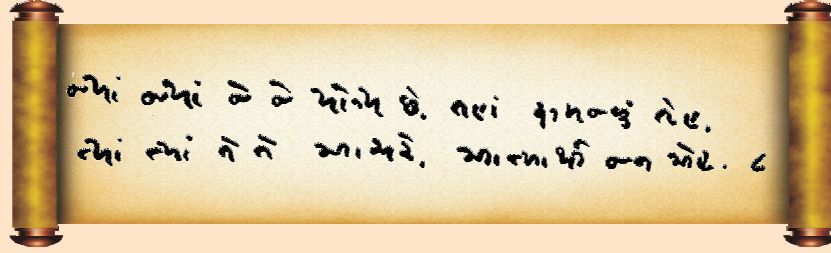
त्याग-विराग न चित्त में, होय न उसको ज्ञान ।  
अटके त्याग-विराग में, तो भूले निज-भान ॥७॥

अन्वयार्थ—( त्याग ) त्याग और ( विराग ) राग का घटाना ( चित्तमां ) जिसके मन में-विचार में ( न ) न हो ( तेने ) उसे ( ज्ञान ) आत्मा का भान ( थाय न ) नहीं होता, और जो ( त्याग ) त्याग और ( विरागमां ) राग के घटाने में ( अटके ) जीव रुक जाये ( तो ) तो ( निज भान ) अपना भान ( भूले ) भूल जाता है ॥७॥

सरलार्थ—जिसके मन में / विचार में त्याग और राग का घटाना न हो, उसे आत्मा का भान नहीं होता और यदि त्याग और राग के घटाने में जीव रुक जाये तो अपना भान भूल जाता है ।



## आत्मार्थी की सम्यक् समझ



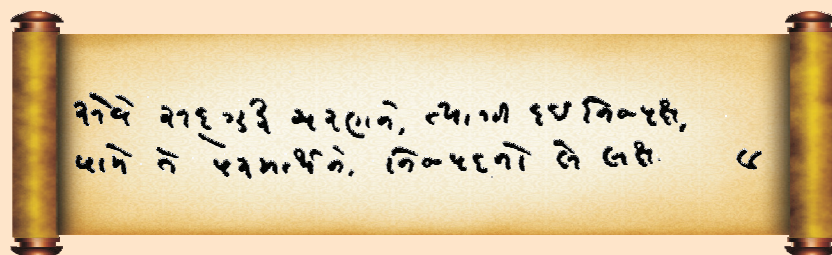
ज्यां ज्यां जे जे योग्य छे, तहां समजवुं तेह;  
त्यां त्यां ते ते आचरे, आत्मार्थी जन एह ॥८॥

जहाँ-जहाँ जो-जो योग्य है, समझो वहाँ वही।  
वहाँ-वहाँ सो-सो आचरे, आत्मार्थी जन सही ॥८॥

अन्वयार्थ—( जे जे ) आत्मज्ञान, त्याग और वैराग्य इत्यादि ( ज्यां ज्यां ) जिस-जिस स्थान में ( योग्य छे ) जिस प्रकार ज्ञानियों ने कहा है, ( तहां ) उसी प्रकार ( तेह ) उनको ( समझऊं ) समझे और ( त्यां त्यां ) उस-उस स्थान में ( ते ते ) उनको ( आचरे ) योग्यता प्रमाण आचरण करे, ( एह ) वह ( जन ) जीव ( आत्मार्थी ) आत्मा का अर्थी है ॥८॥

सरलार्थ—आत्मज्ञान, त्याग और वैराग्य इत्यादि जिस-जिस स्थान पर जिस प्रकार से ज्ञानियों ने कहा है, उसी प्रकार उन्हें समझे और उस-उस जगह उन्हें योग्यता प्रमाण आचरण करे, वह जीव आत्मा का अर्थी है।

## आत्मज्ञान का पात्र



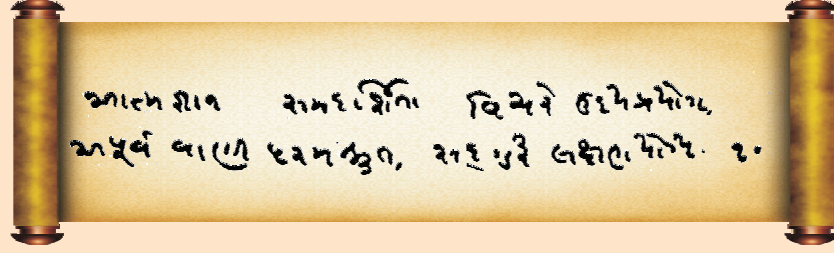
सेवे सद्गुरुचरणने, त्यागी दई निजपक्ष;  
पामे ते परमार्थने, निजपदनो ले लक्ष ॥९॥

सेवे सद्गुरु के चरण, त्याग कर निज-पक्ष ।  
पावे वह परमार्थ को, निजपद का ले लक्ष ॥९॥

अन्वयार्थ—( निजपक्ष ) अपनी छोटी पकड़ को ( त्यागी दई ) छोड़कर जो जीव ( सद्गुरु ) आत्मज्ञानी गुरु ने ( चरणने ) प्ररूपित न्याय को ( सेवे ) समझता है ( ते ) वह ( परमार्थने ) आत्मकल्याण को ( पामे ) पाता है और ( निजपदने ) अपने आत्मस्वरूप का ( लक्ष ) ज्ञान ( ले ) प्राप्त करता है ॥९॥

सरलार्थ—अपनी मिथ्या पकड़ को छोड़कर जो जीव आत्मज्ञानी गुरु द्वारा प्ररूपित न्याय को समझता है, वह आत्मकल्याण को प्राप्त करता है और अपने आत्मस्वरूप का ज्ञान उपलब्ध करता है ।

## सद्गुरु के लक्षण



आत्मज्ञान समदर्शिता, विचरे उदयप्रयोग;  
अपूर्व वाणी परमश्रुत, सद्गुरु लक्षण योग्य ॥१०॥

आत्मज्ञान समदर्शिता, विचरे उदय-प्रयोग।  
अपूर्व वाणी परमश्रुत, सद्गुरु लक्षण योग्य ॥१०॥

**अन्वयार्थ—**( आत्मज्ञान ) आत्मधर्म का सच्चा ज्ञान ( समदर्शिता ) पर से लाभ-नुकसान न मानने की समता, ( विचरे उदय प्रयोग ) विचरने आदि की शरीर की क्रिया, उदय प्रमाण होती है अर्थात् जीव उसे नहीं कर सकता, ऐसा जानता है, ( अपूर्व वाणी ) जिसकी वाणी पूर्व में कभी नहीं सुने हुए ऐसे न्यायों से भरपूर है, जिसे ( परमश्रुत ) उत्कृष्ट श्रुतज्ञान—प्रयोजनभूत ज्ञान है, वह ( सद्गुरु ) सद्गुरु के ( योग्य ) योग्य ( लक्षण ) लक्षण हैं ॥ १० ॥

**सरलार्थ—**जिसे आत्मधर्म का सच्चा ज्ञान है; पर से लाभ-नुकसान न माननेरूप समता; उदयानुसार विचरना आदि की शरीर की क्रिया अर्थात् जीव उसे कर नहीं सकता—ऐसा जानता है; पूर्व में कभी नहीं सुने हुए, ऐसे न्यायों से भरपूर वाणी उत्कृष्ट श्रुतज्ञान / प्रयोजनभूत ज्ञान है; वह सद्गुरु के योग्य लक्षण हैं।



## आत्मविचार की जागृति कब हो ?

प्रत्यक्ष साक्षात् सद्गुरु, एवो लक्ष्यं विना, उगे न आत्मविचारः ॥११॥  
ऐसा लक्ष्य थया विना, उगे न आत्मविचारः ॥११॥

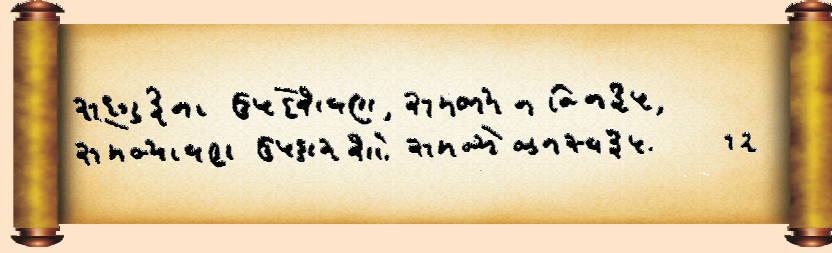
प्रत्यक्ष सद्गुरु सम नहीं, परोक्ष जिन उपकार;  
एवो लक्ष्य थया विना, उगे न आत्मविचार ॥११॥

प्रत्यक्ष सद्गुरु सम नहीं, परोक्ष जिन-उपकार ।  
ऐसा लक्ष्य हुए बिना, जगे न आत्म-विचार ॥११॥

अन्वयार्थ—( प्रत्यक्ष सद्गुरु ) साक्षात् सद्गुरु के ( उपकार ) उपकार ( सम )  
जैसा ( परोक्ष जिन ) उपस्थित नहीं ऐसे जिन भगवान का ( नहीं ) उपकार नहीं है, ( एवो  
लक्ष्य ) ऐसा लक्ष्य । ( थया विना ) हुए बिना ( आत्मविचार ) अपने स्वरूप का विचार  
( उगे न ) उत्पन्न नहीं होता ॥११॥

सरलार्थ—उपस्थित नहीं ऐसे जिन भगवान का उपकार, साक्षात् सद्गुरु के  
उपकार जैसा नहीं है, ऐसा लक्ष्य हुए बिना अपने स्वरूप का विचार उत्पन्न नहीं होता ।

## सद्गुरु के उपदेश बिना जिनस्वरूप की समझ नहीं



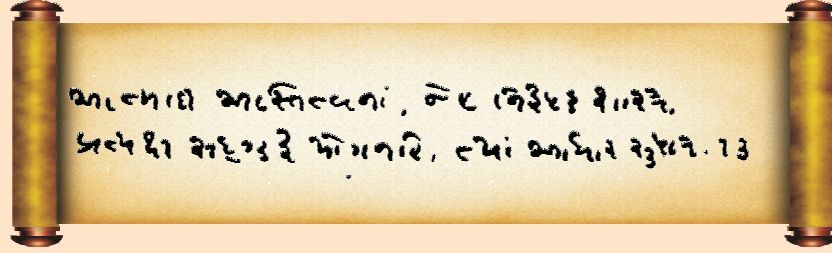
सद्गुरुना उपदेश वण, समजाय न जिनरूप;  
समझ्या वण उपकार शो? समझ्ये जिनस्वरूप ॥१२॥

सद्गुरु के उपदेश बिन, समझे नहीं जिन-रूप।  
समझे बिन उपकार क्या? समझत हों जिन-रूप ॥१२॥

अन्वयार्थ—(जिनरूप) जिनेश्वर भगवान का सच्चा स्वरूप (सद्गुरुना) आत्मज्ञानी गुरु के (उपदेशवण) उपदेश बिना (समझाय) समझता (न) नहीं और (समझ्यावण) समझे बिना (उपकार) लाभ (सो) क्या (अर्थात् कि लाभ नहीं होता)। (समझसे) जो जीव समझे। (जिनस्वरूप) तो स्वयं ही अज्ञान—राग-द्वेष को जीतनेवाला जिनस्वरूप प्रगट करता है ॥१२॥

सरलार्थ—जिनेश्वर भगवान का सच्चा स्वरूप आत्मज्ञानी गुरु के उपदेश बिना समझ में नहीं आता और उसे समझे बिना लाभ भी क्या? अर्थात् कि लाभ नहीं होता। यदि जीव समझे तो स्वयं ही अज्ञान, राग-द्वेष को जीतनेवाला जिनस्वरूप प्रगट करता है।

## सद्गुरु-योग के अभाव में सुशास्त्र आधार



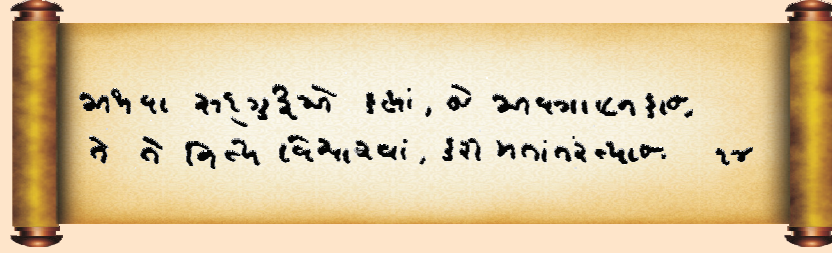
आत्मादि अस्तित्वनां, जेह निरूपक शास्त्र;  
प्रत्यक्ष सद्गुरु योग नहि, त्यां आधार सुपात्र ॥१३॥

आत्मादि अस्तित्व के, जो हैं निरूपक शास्त्र ।  
प्रत्यक्ष सद्गुरु योग नहिं, तब आधार सुपात्र ॥१३॥

अन्वयार्थ—( आत्मा ) जीव ( आदि ) अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष का ( अस्तित्वना ) जैसा स्वरूप है, वैसा ( निरूपक ) कहनेवाले ( जेह शास्त्र ) जो शास्त्र हैं, वे ( प्रत्यक्ष ) हाजरा-हुजूर ( सद्गुरु ) सद्गुरु का ( योग ) मिलाप ( नहिं ) न हो, ( त्यां ) तब ( सुपात्र ) योग्य जीव को ( आधार ) आधाररूप है ॥१३॥

सरलार्थ—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष का जैसा स्वरूप है, वैसा कहनेवाले जो शास्त्र हैं, वे जब सद्गुरु की प्रत्यक्ष विद्यमानता न हो तब योग्य जीव को आधाररूप है ।

## सत्शास्त्र का अवगाहन कैसे करना ?



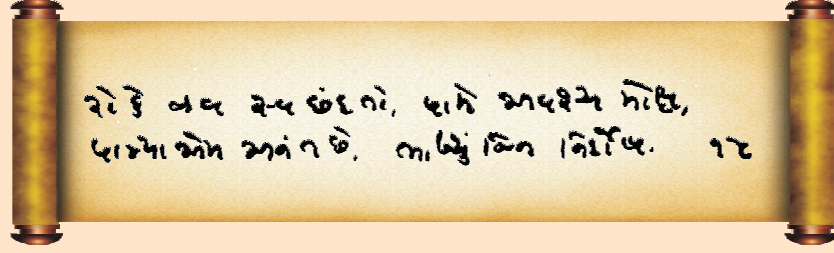
अथवा सद्गुरुए कहां, जे अवगाहन काज;  
ते ते नित्य विचारवां, करी मतांतर त्याज ॥१४॥

अथवा सद्गुरु ने कहे, जो अवगाहन कार्य।  
उनको नित्य विचारना, छोड़ मतान्तर त्याज्य ॥१४॥

अन्वयार्थ—( अथवा ) अथवा तो ( जे ) जो ( सद्गुरुये ) सद्गुरु भगवान ने  
( अवगाहन ) गहरा विचारने ( काज ) के लिये ( कया ) आज्ञा की हो ( ते ते ) वे-वे  
शास्त्र ( मतान्तर ) अपना प्राचीन आग्रह ( करि त्याज्य ) छोड़कर ( नित्य ) हमेशा  
( विचारवां ) आत्मा के लिये विचार करना ॥१४॥

सरलार्थ—अथवा सद्गुरु भगवान ने जो-जो शास्त्र अन्तरंग से विचारने के लिये  
आज्ञा की हो उन-उन शास्त्रों का अपना पूर्वाग्रह त्याग कर हमेशा आत्मा के लिये विचार  
करना चाहिए।

...तो जीव मोक्ष प्राप्त करे



रोके जीव स्वच्छन्द तो, पावे अवश्य मोक्ष;  
पाम्या एम अनन्त छे, भाख्युं जिन निर्दोष ॥१५ ॥

रोके जीव स्वच्छन्द तो, पावे निश्चित मोक्ष।  
पाया इस विधि अनन्त ने, कहते जिन निर्दोष ॥१५ ॥

अन्वयार्थ—( जीव ) जो जीव ( स्वच्छन्द ) अपना छन्दों—उल्टी मान्यता ( रोके ) टाले ( तो ) तो ( अवश्य ) निश्चित ( मोक्ष ) अपनी पूर्ण पवित्रता ( पामे ) प्रगट करे। ( एम ) इस प्रकार ( अनन्त ) अनन्त जीवों ने ( पाम्या छे ) पूर्ण पवित्रता प्रगट की है, ऐसा ( निर्दोष ) दोषरहित ( जिन ) अज्ञान और राग-द्वेष के मिटानेवाले जिन भगवान ने ( भाख्युं ) कहा है ॥१५ ॥

सरलार्थ—जो जीव अपनी विपरीत मान्यता टाले तो अपनी पूर्ण पवित्रता निश्चित प्रगट करे, इस प्रकार अनन्त जीवों ने पूर्ण पवित्रता प्रगट की है, ऐसा दोषरहित तथा अज्ञान और राग-द्वेष को टालनेवाले जिन भगवान ने कहा है।



## स्वच्छन्द टालने का उपाय

प्रत्यक्ष सद्गुरु योगी, स्वच्छन्द ते रोकाय,  
अन्य उपाय कर्या थकी, प्राये वमणो थाय ॥१६॥

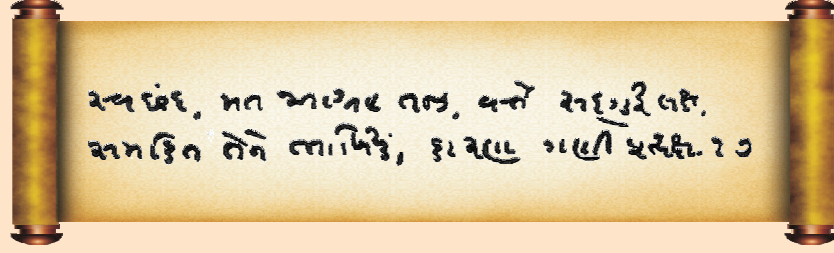
प्रत्यक्ष सद्गुरु योगी, स्वच्छन्द ते रोकाय;  
अन्य उपाय कर्या थकी, प्राये वमणो थाय ॥१६॥

प्रत्यक्ष सद्गुरु योग से, स्वच्छन्दता रुक जाय ।  
अन्य साधन-करन से, प्रायः दुगुनी हो जाये ॥१६॥

अन्वयार्थ—( प्रत्यक्ष ) साक्षात् ( सद्गुरु ) सद्गुरु के ( योग से ) उपदेश को ग्रहण करने से ( ते ) वह ( स्वच्छन्द ) अपनी उल्टी मान्यता—मिथ्यात्व ( रोकाय ) टलता है, ( अन्य ) दूसरे ( उपाय ) इलाज—साधन ( करियाथकी ) करने से ( प्राये ) प्रायः ( वमणोथाय ) दुगुनी होती है ॥१६॥

सरलार्थ—साक्षात् सद्गुरु के उपदेश को ग्रहण करने से अपनी वह उल्टी मान्यता / मिथ्यात्व टलता है, दूसरे साधन करने से प्रायः दुगुना होता है ।

## समकित का कारण



स्वच्छंद, मत आग्रह तजी, वर्ते सद्गुरुलक्ष;  
समकित तेने भाखियुं, कारण गणी प्रत्यक्ष ॥१७॥

स्वच्छन्द मत-आग्रह तजे, वर्ते सद्गुरु-लक्ष ।  
समकित उसको ही कहा, कारण मान प्रत्यक्ष ॥१७॥

अन्वयार्थ—( स्वच्छन्द ) अपनी उल्टी मान्यता, ( मत ) अपना उल्टा ज्ञान और ( आग्रह ) उसकी पकड़ ( तजि ) छोड़ करके ( सद्गुरु ) सद्गुरु ने ( लक्ष्य ) समझाये हुए आत्मज्ञान को ( वर्ते ) अनुसरण करे ( तेने ) उसे ( प्रत्यक्ष ) सीधे ( कारण ) कारण ( गणी ) गिनकर ( समकित ) समकित ( सम्यक् ) सच्ची मान्यता ( भाखियुं ) ज्ञानियों ने कहा है ॥१७॥

सरलार्थ—अपनी उल्टी मान्यता, अपना उल्टा ज्ञान और उसकी पकड़ छोड़कर सद्गुरु ने समझाये हुए आत्मज्ञान का अनुसरण करे, उसे सीधा कारण गिनकर उसको सम्यक्त्व / सच्ची मान्यता ज्ञानियों ने कहा है ।

## सद्गुरु शरण की अतिशयता

मानादिक शत्रु महा, निज छंदे न मराय,  
जातां सद्गुरु शरणमां, अल्प प्रयासे जाय ॥१८॥

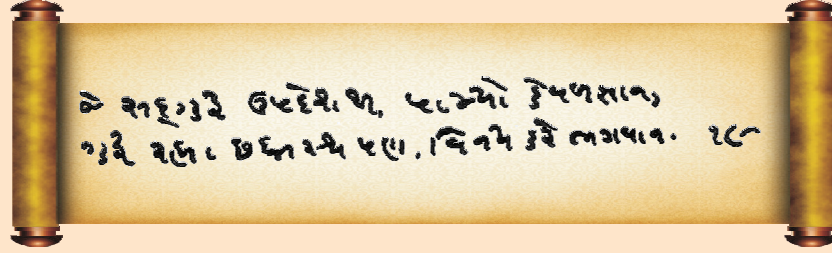
मानादिक शत्रु महा, निज छंदे न मराय;  
जातां सद्गुरु शरणमां, अल्प प्रयासे जाय ॥१८॥

मानादिक शत्रु महा, स्वच्छन्द से न नशाय।  
सद्गुरु चरण सुशरण में, अल्प यत्न से जाय ॥१८॥

अन्वयार्थ—(मान) मान अर्थात् पर का मैं कर सकता हूँ, ऐसा अभिमान (आदिक) अपने स्वरूप की अरुचि इत्यादि जीव के (महा) बड़े (शत्रु) शत्रु हैं, वे (निज) अपनी (छन्दे) उल्टी मान्यता द्वारा (न मराय) नाश नहीं होते परन्तु (सद्गुरु) ज्ञानी पुरुष ने (शरणमां) समझाये हुए ज्ञान की शरण में (जातां) जाने से (अल्प) सहज (प्रयासे) पुरुषार्थ से (जाय) टलते हैं ॥१८॥

सरलार्थ—मान अर्थात् मैं पर का कर सकता हूँ, ऐसा अभिप्राय, अपने स्वरूप की अरुचि इत्यादि जीव के महा शत्रु हैं। वे अपनी विपरीत मान्यता द्वारा नाश नहीं होते परन्तु ज्ञानी पुरुष ने समझाये हुए ज्ञान की शरण में जाने से सहज पुरुषार्थ से टलते हैं।

## वीतरागी विनय



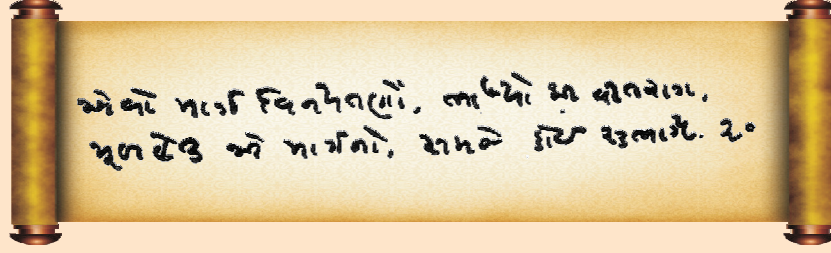
जे सद्गुरु उपदेशथी, पाम्यो केवलज्ञान;  
गुरु रह्या छद्मस्थ पण, विनय करे भगवान् ॥१९॥

जो सद्गुरु उपदेश से, पाया केवलज्ञान।  
गुरु रहे छद्मस्थ पर, विनय करें भगवान् ॥१९॥

अन्वयार्थ—( जे ) जो जीव ( सद्गुरु ) सद्गुरु के ( उपदेशथी ) उपदेश से ( केवलज्ञान ) पूर्ण ज्ञान ( पाम्यो ) प्राप्त हुआ और ( गुरु ) गुरु ( छद्मस्थ ) अपूर्ण ज्ञान में ( रह्या ) रहे ( पण ) तो भी ( भगवान ) केवलज्ञानी भगवान ( विनय ) वीतरागी विनय ( करे छे ) करते हैं, अर्थात् पूर्व में ये उनके ( केवली के ) गुरु थे और उनसे स्वयं धर्म को प्राप्त हुए हैं, ऐसा वे जानते हैं ॥१९॥

सरलार्थ—जिन सद्गुरु के उपदेश से जीव पूर्ण ज्ञान को प्राप्त हुए और गुरु अपूर्ण ज्ञान में रहे, तथापि केवलज्ञानी भगवान, वीतरागी विनय करते हैं अर्थात् पूर्व में यह उनके गुरु थे और उनसे स्वयं ने धर्म प्राप्त किया है, ऐसा वे जानते हैं।

## विनयः मार्ग का मूल हेतु



एवो मार्ग विनय तणो, भाख्यो श्री वीतराग;  
मूल हेतु ए मार्गनो, समजे कोई सुभाग्य ॥२०॥

मार्ग ऐसा विनय का, कहते श्री वीतराग।  
मूल हेतु यह मार्ग का, समझे कोई सुभाग्य ॥२०॥

अन्वयार्थ—( अवेवो ) ऐसा ( मार्ग ) मार्ग ( विनय ) सच्चे ज्ञान ( वीतरागी विनय ) ( तणों ) का है, ऐसा ( श्री वीतराग ) श्री वीतराग ने ( भाख्यो ) कहा है ( ऐ ) उस ( मार्गनो ) मार्ग का ( मूल हेतु ) मूल कारण ( कोई ) जो-जो ( सुभाग्य ) सच्चा पुरुषार्थ करता है, वह-वह ( समजे ) समझता है ॥२०॥

सरलार्थ—ऐसा मार्ग सच्चे ज्ञान ( वीतरागी विनय ) का है, ऐसा श्री वीतराग ने कहा है, उस मार्ग का मूल कारण जो-जो सच्चा पुरुषार्थ करते हैं, वे-वे समझते हैं।



## असद्गुरु के विनय का फल

असद्गुरु ई अे विनयनो, लाभ लहे जो काई,  
महामोहनीय कर्मथी, बूडे भवजळ मांही. २१

असद्गुरु ए विनयनो, लाभ लहे जो काई;  
महामोहनीय कर्मथी, बूडे भवजळ मांही ॥२१॥

असद्गुरु इस विनय का, लाभ लेय यदि कोई।  
महा मोहनीय कर्म से, डूबत भव-जल सोई ॥२१॥

अन्वयार्थ—( असद्गुरु ) मिथ्या गुरु, शिष्यादि से ( ए विनयनो ) भगवान ने कहे हुए विनय का ( लाभ चहे जो काई ) यदि कुछ भी गैर लाभ लहे अर्थात् अपने में सद्गुरुपना स्थापित करे तो ( महामोहिनी ) कठोर मिथ्यात्वरूपी ( कर्मथी ) अपने कर्म / कार्य द्वारा ( भवजळ ) संसार के भवरूपी समुद्र ( मांही ) में ( बूड़े ) डूब जाये अर्थात् अनन्त काल का निगोदपना पाता है ॥२१॥

सरलार्थ—मिथ्या गुरु, यदि शिष्यादि से भगवान के कहे हुए विनय का जो कुछ भी अनुचित लाभ लेते हैं अर्थात् अपने में सद्गुरुपना स्थापित करते हैं तो कठोर मिथ्यात्वरूपी अपने कार्य / कर्म द्वारा संसार के भवरूपी समुद्र में डूब जाते हैं अर्थात् अनन्त काल का निगोदपना प्राप्त करते हैं।

## मुमुक्षु और मतार्थी का भेद

होय मुमुक्षु जीव ते, समजे एह विचार,  
होय मतार्थी जीव ते, अवळो ले निर्धार. २२

होय मुमुक्षु जीव ते, समजे एह विचार;  
होय मतार्थी जीव ते, अवळो ले निर्धार ॥२२॥

होय मुमुक्षु जीव वह, समझत यह सुविचार।  
होय मतार्थी जीव वह, उलट करे निर्धार ॥२२॥

अन्वयार्थ—( जीव ) जो जीव ( मुमुक्षु ) मुक्ति का सच्चा कामी ( होय ) है, ( ते ) वह ( ऐह ) यह ( विचार ) विचार ( समझे ) बराबर समझता है और ( जीव ) जो जीव ( मतार्थी ) अपनी विपरीतता को पकड़ रखनेवाला ( होय ) है, ( ते ) वह ( अवळो ) उल्टा ( निर्धार ) निर्णय ( ले ) करता है ॥२२॥

सरलार्थ—जो जीव मुक्ति का सच्चा अभिलाषी है, वह यह विचार बराबर समझता है और जो जीव अपनी विपरीतता को पकड़ रखनेवाला है, वह उल्टा निर्णय करता है।

## मतार्थी को आत्मलक्ष्य नहीं

होय मतार्थी तेहने, थाय न आत्मलक्ष्य.  
तेह मतार्थी लक्षणो, अहीं कह्यां निर्पक्ष. २३

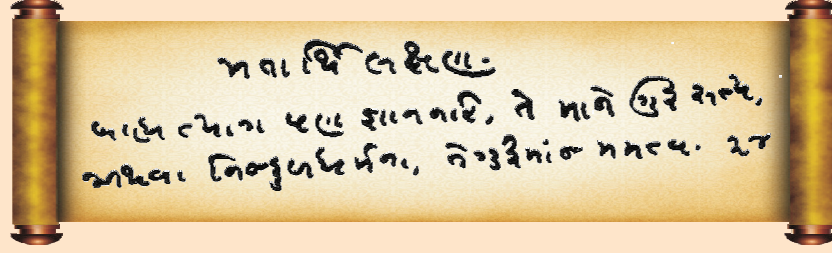
होय मतार्थी तेहने, थाय न आत्म लक्ष्य;  
तेह मतार्थी लक्षणो, अहीं कह्यां निर्पक्ष ॥२३॥

होय मतार्थी तो उसे, होय न आत्म-लक्ष्य।  
ये ही मतार्थी लक्षण हैं, यहाँ कहे निष्पक्ष ॥२३॥

**अन्वयार्थ**—जो ( मतार्थी ) मतार्थी ( होय ) है, ( तेहने ) उसे ( आत्मलक्ष्य ) आत्मा का ज्ञान ( थाय ) होता ( न ) नहीं, ( तेह ) उन ( मतार्थी ) उल्टी पकड़वाले जीवों को पहिचानने के चिह्न ( अहीं ) यहाँ ( निर्पक्ष ) किसी का पक्ष खींचे बिना ( कह्या ) कहे जाते हैं ॥२३॥

**सरलार्थ**—जो मतार्थी है, उसे आत्मा का ज्ञान नहीं होता। उन विपरीत पकड़वाले जीवों को पहिचानने के चिह्न यहाँ किसी का पक्ष खींचे बिना, अर्थात् निष्पक्षता से कहे जाते हैं।

## दस गाथाओं द्वारा मतार्थी लक्षण : गुरु के स्वरूप में भूल



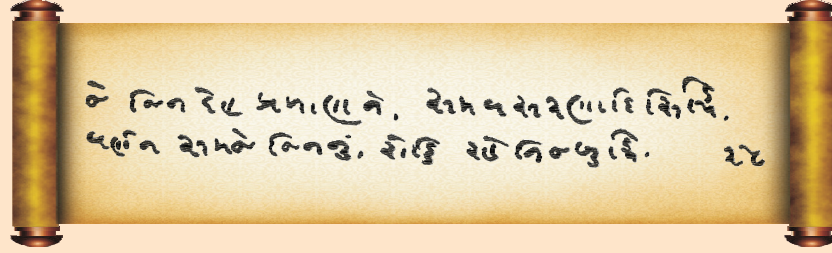
बाह्यत्याग पण ज्ञान नहि, ते माने गुरु सत्य;  
एवो लक्ष थया विना, ऊगे न आत्मविचार ॥२४॥

बाह्य त्याग पर ज्ञान नहीं, वह गुरु माने सत्य।  
अथवा निज-कुल-धर्म के, गुरुओं में ही ममत्व ॥२४॥

**अन्वयार्थ**— जिसे ( बाह्यत्याग ) बाहर का / संयोग का त्याग है ( पण ) परन्तु ( ज्ञान ) आत्मा का सच्चा ज्ञान ( नहीं ) नहीं, उसको ( ते ) वे ( सत्य ) सच्चे ( गुरु ) गुरु ( माने ) मानते हैं, ( अथवा ) अथवा ( निज ) अपने ( कुल ) बाप-दादा ने माने हुए, ( धर्मना ) धर्म के ( गुरुमांज ) गुरु में ही ( ते ) वे ( ममत्व ) मेरापना करते हैं ॥२४॥

**सरलार्थ**— जिसे बाहर का अर्थात् संयोगों का त्याग है परन्तु आत्मा का सच्चा ज्ञान नहीं है, ऐसे को वे सच्चा गुरु मानते हैं अथवा अपने बाप-दादा ने माने हुए, धर्म के गुरु में ही वे मेरापन करते हैं।

## मतार्थी लक्षण... देव के स्वरूप की भूल



जे जिनदेह प्रमाण ने, समवसरणादि सिद्धि;  
वर्णन समजे जिननुं, रोकी रहे निज बुद्धि ॥२५॥

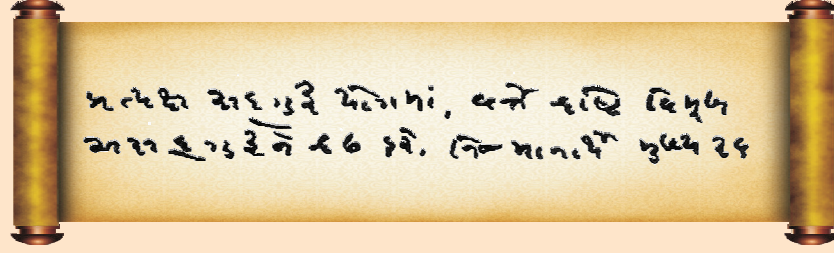
जो जिन-देह-प्रमाण अरु, समवसरणादि सिद्धि।  
वर्णन समझे 'जिन' का, रोकि रखे निज बुद्धि ॥२५॥

अन्वयार्थ—( जे ) जो ( जिन ) जिनेश्वर भगवान के ( देह ) शरीर के ( प्रमाण ) माप / ऊँचाई इत्यादि को ( ने ) और ( समवसरण ) धर्म सभा ( आदि ) इत्यादि ( सिद्धि ) पुण्य के ठाठ को ( जिननुं ) वीतरागदेव का ( वर्णन ) स्वरूप ( समझे ) समझते हैं, वे ( निजबुद्धि ) अपने ज्ञान को उसमें ( रोकी रहे ) रोक रखते हैं अर्थात् वीतराग के सच्चे स्वरूप को समझने के लिये अपनी बुद्धि को नहीं ले जाते हैं ॥२५॥

सरलार्थ—जो जिनेश्वर भगवान के शरीर के माप अर्थात् ऊँचाई इत्यादि को और धर्मसभा इत्यादि पुण्य के ठाठ को वीतरागदेव का स्वरूप समझते हैं, वे अपने ज्ञान को उसमें रोक रखते हैं अर्थात् वीतराग के सच्चे स्वरूप को समझने के लिये अपनी बुद्धि का प्रयोग नहीं करते।



## मतार्थी लक्षण... सद्गुरु योग में विमुखता



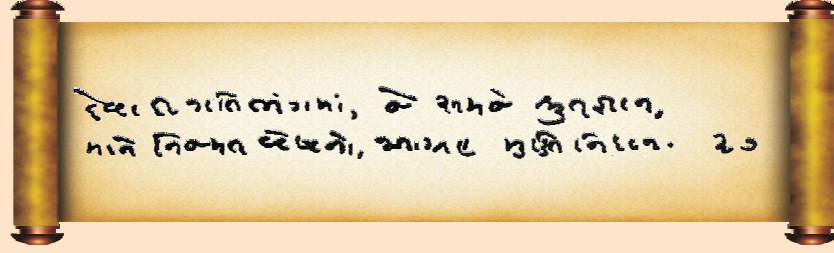
प्रत्यक्ष सद्गुरुयोगमां, वर्ते दृष्टि विमुख;  
असद्गुरुने दृढ करे, निज मानार्थे मुख्य ॥२६॥

प्रत्यक्ष सद्गुरु-योग में, रखता दृष्टि विमुख।  
असद्गुरु को दृढ करे, निज-मान-हेतु मुख्य ॥२६॥

अन्वयार्थ—( प्रत्यक्ष ) साक्षात् ( सद्गुरु ) सद्गुरु के ( योगमां ) मिलाप के समय ( दृष्टि ) अपनी दृष्टि ( विमुख ) उनसे अत्यन्त विरोधवाली ( वर्ते ) रखता है और ( मुख्य ) मुख्यरूप से ( निज ) अपने ( मानार्थे ) बड़प्पन बढ़ाने के लिये ( असद्गुरु ने ) अज्ञानी गुरु को ( दृढ ) जोर से ( करे ) स्थापन करता है ॥२६॥

सरलार्थ—साक्षात् सद्गुरु के योग के समय अपनी दृष्टि उनसे अत्यन्त विरोधवाली रखता है और मुख्यरूप से अपनी महत्ता बढ़ाने के लिये अज्ञानी गुरु को जोर से स्थापित करता है।

## मतार्थी लक्षण... श्रुतज्ञान एवं वेष सम्बन्धी मूढ़ता



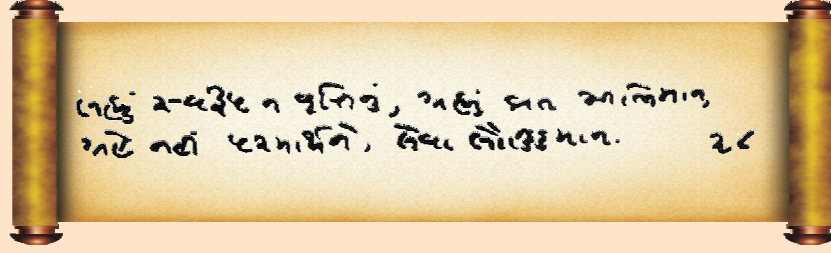
देवादि गति भंगमां, जे समजे श्रुतज्ञान;  
माने निज मत वेषनो, आग्रह मुक्तिनिदान ॥२७॥

देवादिक गति भंग में, जो समझे श्रुतज्ञान।  
माने निज-मत-वेष का, आग्रह मुक्ति-निदान ॥२७॥

अन्वयार्थ—( देव ) देव, ( आदि ) मनुष्य, नारकी, तिर्यच की ( गति ) गति के ( भंगमां ) भेद जानना, उसे ( जे ) जो ( श्रुतज्ञान ) श्रुतज्ञान अर्थात् प्रयोजनभूत ज्ञान ( समझे ) समझता है, तथा ( निज ) अपने ( मत ) सम्प्रदाय के ( वेषनो ) वेष को ( मुक्ति ) मोक्ष का ( निदान ) कारण ( आग्रह ) खोटी पकड़ से ( माने ) मानता है ॥२७॥

सरलार्थ—देव, मनुष्य, नारकी, तिर्यच की गति के भेद जानना, उसे जो श्रुतज्ञान अर्थात् प्रयोजनभूत ज्ञान समझता है, तथा अपने सम्प्रदाय के वेष को मोक्ष का कारण मिथ्या आग्रह से मानता है।

## मतार्थी लक्षण... मान का पोषण



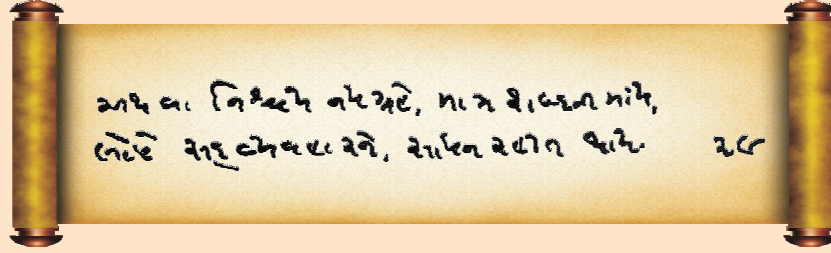
लह्यं स्वरूप न वृत्तिं, ग्रह्यं व्रत अभिमान;  
ग्रहे नहीं परमार्थने, लेवा लौकिक मान ॥२८॥

जाने स्वरूप न वृत्ति का, धारे व्रत-अभिमान।  
ग्रहे नहीं परमार्थ को, लेने लौकिक मान ॥२८॥

अन्वयार्थ—( वृत्तिं ) अपनी वर्तमान दशा का ( स्वरूप ) भान ( लह्यं ) नहीं और ( लौकिक ) लोगों में ( मानलेवा ) बड़े होने के लिये ( व्रत ) 'मैं व्रतधारी हूँ', ऐसा ( अभिमान ) अभिमान ( ग्रह्यं ) धारण करता है, वह ( परमार्थने ) आत्मा के सच्चे स्वरूप को ( ग्रहे ) ग्रहण करता ( नहीं ) नहीं ॥२८॥

सरलार्थ—अपनी वर्तमान दशा का भान नहीं और लोगों में बड़ा होने के लिये 'मैं व्रतधारी हूँ', ऐसा अभिमान धारण करता है, वह आत्मा के सच्चे स्वरूप को ग्रहण नहीं करता।

## मतार्थी लक्षण... निश्चय-व्यवहार की भूल



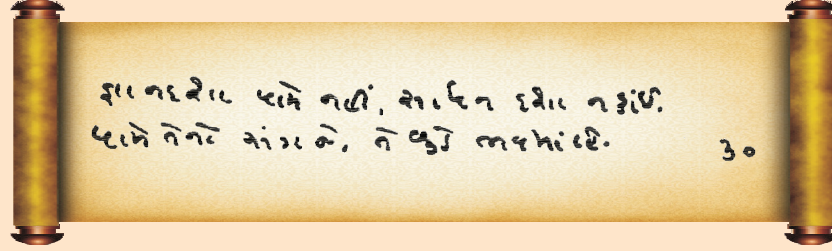
अथवा निश्चय नय ग्रहे, मात्र शब्दनी मांय;  
लोपे सद्व्यवहारने, साधन रहित थाय ॥२९॥

अथवा निश्चय नय ग्रहण, मात्र कथन में होय ।  
लोपे सद्व्यवहार को, साधन रहित जु होय ॥२९॥

अन्वयार्थ—( अथवा ) अथवा ( निश्चयनय ) 'मैं त्रिकाल शुद्ध हूँ' ऐसा ( मात्र ) मात्र ( शब्दनिमाय ) शब्दों में ( ग्रहे ) कथन किया करता है और ( सद्व्यवहारने ) सच्चे पुरुषार्थ को ( लोपे ) उत्थापित करता है अर्थात् समझणपूर्वक राग-द्वेष घटाता नहीं, वह ( साधन ) साधन ( रहित ) रहित ( थाय ) होता है ॥२९॥

सरलार्थ—अथवा मैं त्रिकाली शुद्ध हूँ, ऐसा मात्र शब्दों में कथन किया करता है और सच्चे पुरुषार्थ को उत्थापित करता है अर्थात् समझपूर्वक राग-द्वेष नहीं घटाता, वह साधन रहित होता है ।

## मतार्थी का संग करनेवाला भी डूबता है



ज्ञानदशा पामे नहीं, साधन दशा न कांड़;  
पामे तेनो संग जे, ते बूडे भवमांहि ॥३०॥

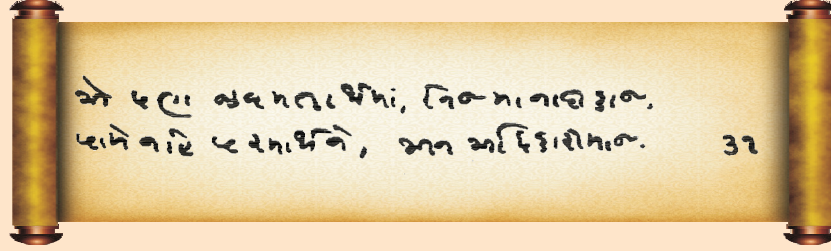
ज्ञान-दशा पायी नहीं, साधन-दशा न अङ्क  
लेता उनका सङ्ग जो, सो डूबे भव-पङ्क ॥३०॥

अन्वयार्थ—ऐसे जीव ( ज्ञानदशा ) सच्ची समझण ( पामें ) प्राप्त ( नहीं ) नहीं करते, तथा ( साधनदशा ) सच्ची समझण के उपाय ( न कांड़ ) कुछ नहीं करते और ( तैनो ) उनका ( जे ) जो जीव ( संग ) संग ( पामें ) प्राप्त करते हैं। ( ते ) वे दोनों ( भवमांहिं ) अनन्त संसार ( बूडे ) बढ़ाते हैं।

सरलार्थ—ऐसे जीव सच्ची समझ को प्राप्त नहीं करते तथा सच्ची समझ का कुछ उपाय भी नहीं करते। जो जीव उनका संग प्राप्त करता है, वे दोनों अनन्त संसार बढ़ाते हैं।



## मतार्थी परमार्थ का पात्र नहीं



ए पण जीव मतार्थमां, निज मानादि काज;  
पामे नहीं परमार्थने, अनअधिकारीमां ज ॥३१॥

निज-मानादिक कार्य हित, जो वर्ते जीव मतार्थ ।  
अन्-अधिकारी ही रहे, पाता नहिं परमार्थ ॥३१॥

अन्वयार्थ—( ए पण ) और वे ( जीव ) जीव ( मतार्थमां ) उल्टे ज्ञान में ( निज ) अपने ( मानादि ) मान इत्यादि ( काज ) के लिये अटके हैं । जिससे वे ( परमार्थ ने ) आत्मा के सच्चे स्वरूप को ( पामे ) प्राप्त ( नहीं ) नहीं करते, वे ( अनअधिकारी माज ) धर्म के लिये अपात्र हैं ॥३१॥

सरलार्थ—और वे जीव उल्टे ज्ञान में अपने मान इत्यादि के लिये अटके हुए हैं, जिससे वे आत्मा के सच्चे स्वरूप को प्राप्त नहीं करते, वे धर्म के लिये अपात्र हैं ।

## मतार्थी दुर्भागी है

नहि कषाय उपशान्ता, नहि अंतर वैराग्ये,  
सरलपणुं न मध्यस्थता, ए मतार्थी दुर्भाग्ये.

32

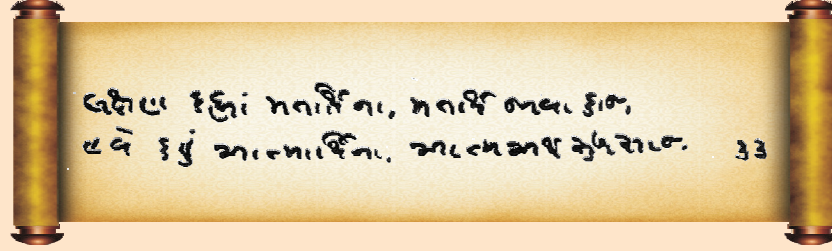
नहीं कषाय उपशान्ता, नहीं अंतर वैराग्य;  
सरलपणुं न मध्यस्थता, ए मतार्थी दुर्भाग्य ॥३२॥

नहिं कषाय उपशान्ता, नहिं अन्तर वैराग्य ।  
सरलपना न मध्यस्थता, यह मतार्थी दुर्भाग्य ॥३२॥

अन्वयार्थ—जो ( कषाय ) मिथ्यात्व और राग-द्वेष ( उपशान्ता ) उपशान्त ( नहीं ) नहीं करते, ( अन्तर ) जिनके अन्तर में ( वैराग्य ) उदासीनता ( नहिं ) नहीं, ( सरलपणो ) सरलता और ( मध्यस्थता ) पक्षपातरहितता ( न ) नहीं ( ऐ ) यह लक्षण ( मतार्थी ) आग्रही की ( दुर्भाग्य ) बुरी दशा को सूचित करते हैं ॥३२॥

सरलार्थ—जो मिथ्यात्व और राग-द्वेष को उपशान्त नहीं करते, जिनके अन्तर में उदासीनता नहीं है, सरलपना और पक्षपातरहितपना नहीं है, ये लक्षण आग्रही—मतार्थी की बुरी दशा के सूचक हैं ।

## मतार्थी लक्षण कथन का प्रयोजन



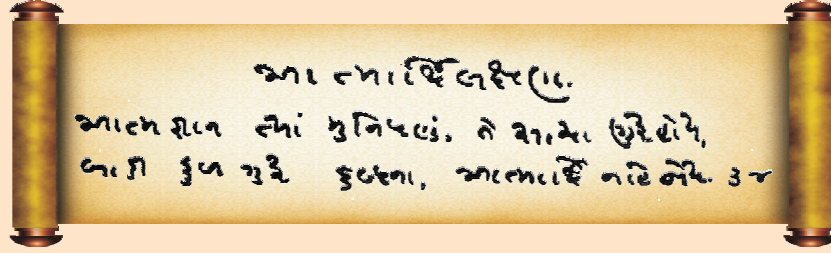
लक्षण कथां मतार्थीनां, मतार्थं जावा काज;  
हवे कहुं आत्मार्थीनां, आत्म-अर्थ सुखसाज ॥३३॥

लक्षण कहे मतार्थी ने, मतार्थं निरसन काज ।  
कहूँ अब आत्मार्थी के, आत्म-अर्थ सुखसाज ॥३३॥

अन्वयार्थ—( मतार्थ ) उल्टे ज्ञान की पकड़ ( जावा ) छोड़ने ( काज ) के लिये ( मतार्थीना ) मतार्थीपने के ( लक्षण ) पहिचानने की निशानियाँ ( कथा ) कही हैं ( हवे ) अब ( सुखसाज ) सुखस्वरूप ( आत्म-अर्थ ) आत्मा के लाभ के लिये ( आत्मार्थीना ) आत्मार्थी के लक्षण ( कहुं ) कहे जाते हैं ॥३३॥

सरलार्थ—विपरीत ज्ञान की पकड़ छोड़ने के लिये, मतार्थीपने की पहिचान के चिह्न कहकर, अब सुखस्वरूप के—आत्मा के लाभ के लिये आत्मार्थी के लक्षण कहे जाते हैं ।

## आत्मार्थी लक्षण



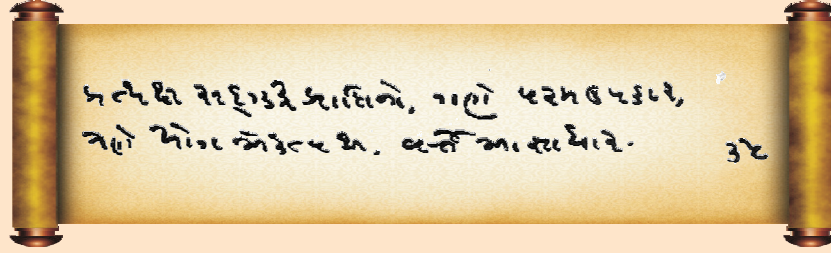
आत्मज्ञान त्यां मुनिपणुं, ते साचा गुरु होय;  
बाकी कुळगुरु कल्पना, आत्मार्थी नहीं जोय ॥३४॥

आत्मज्ञान सह मुनिपना, वे सच्चे गुरु होय।  
बाकी कुल-गुरु-कल्पना, आत्मार्थी नहिं कोय ॥३४॥

अन्वयार्थ—जहाँ ( आत्मज्ञान ) आत्मा का सच्चा भान हो, ( त्यां ) वहाँ ही ( मुनिपणुं ) सच्ची मुनिदशा होती है और ( ते ) वे ही ( सांचा ) सच्चे ( गुरु ) गुरु ( होय ) हो सकते हैं। ( बाकी ) दूसरे ( कुळगुरु ) बाप-दादा के कुल में माने जाते रहे गुरु ( कल्पना ) कल्पित ही है, ऐसे को ( आत्मार्थी ) आत्मा का अर्थी जीव ( नहीं जोय ) सच्चे गुरु नहीं मानता ॥३४॥

सरलार्थ—जहाँ आत्मा का सच्चा भान हो, वहाँ ही सच्ची मुनिदशा होती है और वही सच्चे गुरु हो सकते हैं। दूसरे, बाप-दादा के कुल में ( कुलपरम्परा में ) माने जानेवाले गुरु कल्पित ही हैं, उनको आत्मार्थी जीव सच्चे गुरु नहीं मानता।

## आत्मारथी लक्षण : प्रत्यक्ष सद्गुरु का उपकार



प्रत्यक्ष सद्गुरुप्राप्तिको, गणो परम उपकार;  
त्रणो योग एकत्वथी, वर्ते आज्ञाधार ॥३५॥

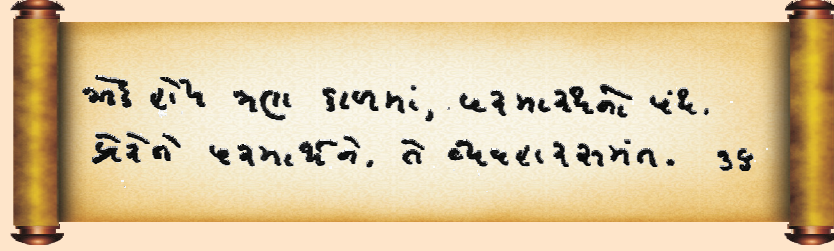
प्रत्यक्ष सद्गुरु प्राप्ति का, गिने परम उपकार।  
मन-वच-तन एकत्व से, वर्ते आज्ञाधार ॥३५॥

अन्वयार्थ—( प्रत्यक्ष ) साक्षात् ( सद्गुरु ) आत्मज्ञानी गुरु ( प्राप्तिनो ) मिलने का वह आत्मारथी ( परम ) बड़े में बड़ा ( उपकार ) उपकार ( गणे ) मानता है और वह ( तृणयोग ) विचार, वाणी और चेष्टा के भाव ( एकत्वथी ) उनकी ही ओर मोड़कर ( आज्ञाधार ) सद्गुरु ने दिये हुए सच्चे ज्ञान के आधार से ( वर्ते ) वर्तता है ॥३५॥

सरलार्थ—साक्षात् आत्मज्ञानी गुरु प्राप्ति का वह ( आत्मारथी ) परम उपकार गिनता है और वह विचार, वाणी और चेष्टा के भाव उनकी ही ओर उन्मुख करके सद्गुरु ने प्रदान किये हुए सच्चे ज्ञान के आधार से वर्तता है ।



## परमार्थ का पंथ त्रिकाल में एक ही



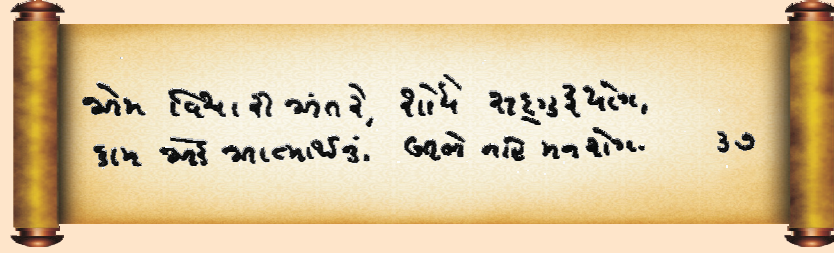
एक होय त्रय कालमां, परमारथनो पंथ;  
प्रेरे ते परमार्थने, ते व्यवहार समंत ॥३६॥

एक होय त्रय काल में, परमारथ का पंथ।  
प्रेरक जो परमार्थ का, वह व्यवहार समन्त ॥३६॥

अन्वयार्थ—(त्रय कालमां) भूत, वर्तमान, आगामी—ऐसे तीनों काल में (परमारथनो) आत्मा के सच्चे ज्ञान का (पंथ) मार्ग (एक) एक ही (होय) होता है, (ते) वैसे (परमार्थने) आत्मा के शुद्ध स्वरूप की (प्रेरे) प्राप्ति हो, (ते) उस (व्यवहार) पुरुषार्थरूप व्यवहार को (समन्त) भलीभाँति जान लेना चाहिए अर्थात् उस पुरुषार्थ को व्यवहार मानना चाहिए ॥३६॥

सरलार्थ—भूत, वर्तमान और भविष्य—ऐसे तीनों कालों में आत्मा के सच्चे ज्ञान का मार्ग एक ही होता है, वैसे आत्मा के शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति होती है, उस पुरुषार्थरूप व्यवहार को भलीभाँति जान लेना चाहिए अर्थात् उस पुरुषार्थ को व्यवहार मानना चाहिए।

## आत्मार्थी का एक ही कार्य



एम विचारी अंतरे, शोधे सद्गुरुयोग;  
काम एक आत्मार्थनुं, बीजो नहीं मन रोग ॥३७॥

यह विचार कर हृदय में, खोजे सद्गुरु योग ।  
काम एक आत्मार्थ का, दूजा नहीं मन-रोग ॥३७॥

अन्वयार्थ—( एम ) इस प्रकार ( अन्तरे ) अन्तर में ( विचारि ) विचार करके ( सद्गुरुयोग ) सद्गुरु के मिलाप को ( शोधे ) शोधता है अर्थात् भावना करता है और ( एक ) एक ( आत्मार्थनुं ) आत्मा की शुद्धता प्राप्त करने का ( काम ) कार्य वह करता है । ( मन ) मन में उसे ( बीजो ) दूसरी ( रोग ) इच्छा ( नहीं ) नहीं होती ॥३७॥

सरलार्थ—इस प्रकार अन्तर में विचार करके सद्गुरु के योग को शोधता है अर्थात् भावना करता है और एक आत्मा की शुद्धता प्राप्त करने का कार्य वह करता है । उसे मन में दूसरी कोई इच्छा नहीं होती ।

## आत्मार्थ निवास कहाँ ?

कषायनी उपशान्तता, मात्र मोक्ष अभिलाष,  
भवे खेद, प्राणी दया, त्यां आत्मार्थ निवास ॥३८॥

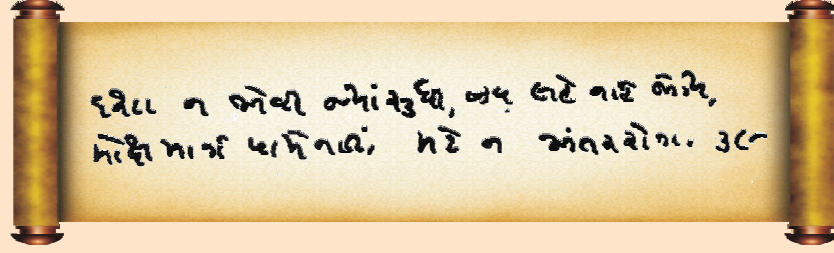
कषायनी उपशान्तता, मात्र मोक्ष अभिलाष;  
भवे खेद, प्राणी दया, त्यां आत्मार्थ निवास ॥३८॥

कषाय की उपशान्तता, मात्र मोक्ष-अभिलाष।  
भव से खेद, प्राणी-दया, वहाँ आत्मार्थ निवास ॥३८॥

**अन्वयार्थ**— जो जीव ( कषायनि ) मिथ्यात्व और उसके साथ के राग-द्वेष को ( उपशान्तता ) उपशान्त करता है और जिसको ( मात्र ) मात्र ( मोक्ष ) पवित्रता की ( अभिलाष ) रुचि है। जिसे ( भवे ) भव का ( खेद ) खेद होता है अर्थात् जो भव टालने के लिये प्रयत्न करता है और ( प्राणी ) अपने तथा पर जीव के प्रति जिसे ( दया ) करुणा होती है, ( त्यां ) वैसे जीवों में ( आत्मार्थ ) आत्मा के कल्याण का ( निवास ) वास होता है ॥३८॥

**सरलार्थ**— जो जीव मिथ्यात्व और उसके साथ के राग-द्वेष को उपशान्त करता है और जिसे मात्र पवित्रता की रुचि है; जिसे भव का खेद होता है अर्थात् जो भव का अभाव करना चाहता है और अपने तथा परजीव के प्रति जिसको करुणा होती है, ऐसे जीवों में आत्मा के कल्याण का वास होता है।

## —ऐसी दशा नहीं... तब तक मोक्षमार्ग नहीं



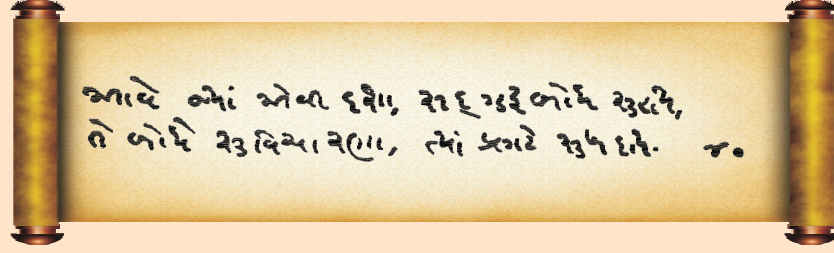
दशा न एवी ज्यां सुधी, जीव लहे नहीं जोग्य;  
मोक्षमार्ग पामे नहीं, मटे न अंतररोग ॥३९॥

दशा न जब तक ऐसी हो, जीव न पाये योग ।  
मोक्षमार्ग पाता नहीं, मिटे न अन्तर रोग ॥३९॥

अन्वयार्थ— ( ज्यां सुधि ) जब तक ( ऐवी ) ऐसी ( दशा ) दशा ( जीव ) आत्मा ( न ) न प्राप्त करे और ( जोग्य ) पात्रता द्वारा ( लहे नहीं ) प्रगट करे नहीं, तब तक ( मोक्षमार्ग ) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अर्थात् आत्मा की पवित्रता का मार्ग ( पामे ) प्राप्त ( नहीं ) नहीं करता, इसलिए ( अन्तर ) उसके आत्मा में से ( रोग ) अज्ञानरूप विकार ( मटे ) मिटता ( न ) नहीं ॥३९॥

सरलार्थ— जब तक ऐसी दशा आत्मा में न प्राप्त हो और पात्रता द्वारा प्रगट नहीं करे, तब तक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अर्थात् आत्मा की पवित्रता का मार्ग—मुक्ति का मार्ग प्राप्त नहीं करता, इसलिए उसके आत्मा में से अज्ञानरूप विकार नहीं मिटता ।

## ऐसी दशा सुखदायक है



आवे ज्यां एवी दशा, सदगुरुबोध सुहाय;  
ते बोधे सुविचारणा, त्यां प्रगटे सुखदाय ॥४०॥

आवे जब ऐसी दशा, सदगुरु-बोध सुहाय।  
बोध से सुविचारणा, वहाँ प्रगटे सुखदाय ॥४०॥

अन्वयार्थ—( ज्यां ) जब ( अवी दशा ) पात्रता की दशा ( आवे ) जीव प्रगट करता है, तब ( सदगुरुबोध ) आत्मज्ञानी गुरु का बोध ( सुहाय ) शोभा पाता है ( त्यां ) वहाँ अर्थात् परिणमता है ( ते ) और उस ( बोधे ) बोध द्वारा ( सुविचारणा ) जो सच्ची विचारदशा ( प्रगटे ) प्रगट होती है, वह ( सुखदशा ) सुख देनेवाली है ॥४०॥

सरलार्थ—जब पात्रता की दशा जीव प्रगट करता है, तब आत्मज्ञानी गुरु का बोध शोभा को प्राप्त होता है, अर्थात् परिणमित होता है, और वह बोध दशा जो सच्ची विचारदशा प्रगट होती है, वह सुख देनेवाली है।



## सुविचारणा से निर्वाण तक

ज्यां प्रगटे सुविचारणा, त्यां प्रगटे निजज्ञान,  
जे ज्ञाने क्षय मोह थई, पावे पद निर्वाण ॥४१॥

ज्यां प्रगटे सुविचारणा, त्यां प्रगटे निजज्ञान;  
जे ज्ञाने क्षय मोह थई, पावे पद निर्वाण ॥४१॥

जब प्रगटे सुविचारणा, तब प्रगटे निजज्ञान।  
ज्ञान से क्षय मोह हो, पावे पद निर्वाण ॥४१॥

अन्वयार्थ—( ज्यां ) जब वह ( सुविचारणा ) सच्ची विचारदशा ( ईहा प्रगटे ) प्रगट होती है, ( त्यां ) तब ( निज ) अपना ( ज्ञान ) ज्ञान—सम्यक्मति और श्रुतज्ञान ( प्रगटे ) प्रगट होता है, और ( जे ) उस ( ज्ञाने ) ज्ञान द्वारा ( मोह ) मोह का ( क्षय ) नाश ( थई ) होकर ( निर्वाण ) शाश्वत् सुख की ( पद ) दशा को ( पावे ) जीव प्राप्त करता है ॥४१॥

सरलार्थ—जब वह सच्ची विचारदशा प्रगट होती है, तब अपना ज्ञान ( सम्यक्मति और श्रुतज्ञान ) प्रगट होता है और उस ज्ञान द्वारा ( स्वभाव-सन्मुखता से ) मोह का नाश होकर जीव शाश्वत् सुख की दशा को प्राप्त करता है ।

## षट् पद का कथन : गुरु-शिष्य संवाद

उपजे ते सुविचारणा, मोक्षमार्ग समजाय,  
गुरु-शिष्य संवादथी, भाखुं षट्पद आंही ॥४२॥

ऊपजे ते सुविचारणा, मोक्षमार्ग समजाय;  
गुरु-शिष्य संवादथी, भाखुं षट्पद आंही ॥४२॥

उपजे वह सुविचारणा, मोक्षमार्ग समझाय।  
गुरु-शिष्य संवाद से, षट्पद यहाँ कहाय ॥४२॥

अन्वयार्थ—( ते ) वैसी ( सुविचारणा ) सच्ची विचारदशा जीव ( ऊपजे ) प्रगट करे और ( मोक्ष ) पूर्ण पवित्रता का ( मार्ग ) उपाय ( समजाय ) समझ में आवे, इसलिए ( गुरु शिष्य ) गुरु और शिष्य के ( संवादथी ) प्रश्नोत्तररूप से—संवादरूप से ( आंही ) यहाँ ( षट्पद ) छह पद ( भाखुं ) कहे जाते हैं ॥४२॥

सरलार्थ—ऐसी सच्ची विचारदशा जीव प्रगट करे और पूर्ण पवित्रता का उपाय समझ में आवे, इसके लिये गुरु और शिष्य के प्रश्नोत्तररूप से अर्थात् संवादरूप से यहाँ छह पद कहे जाते हैं।

## षट्पद कथन

आत्मा छे ते नित्य छे, छे कर्ता निजकर्म,  
छे भोक्ता वळी भोक्ष छे, मोक्ष उपाय सुधर्म. ४३

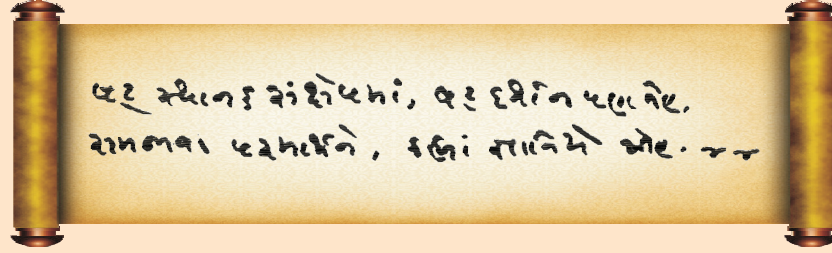
‘आत्मा छे’, ‘ते नित्य छे’, ‘छे कर्ता निजकर्म’;  
‘छे भोक्ता’, वळी ‘मोक्ष छे’, मोक्ष उपाय सुधर्म ॥४३॥

‘आत्मा है’, ‘वह नित्य है’, ‘है कर्ता निजकर्म’।  
‘है भोक्ता’, अरु ‘मोक्ष है’, ‘मोक्ष उपाय सुधर्म’ ॥४३॥

अन्वयार्थ—( आत्मा छे ) आत्मा का अस्तित्व है, ( ते ) वह ( नित्य छे ) शाश्वत् है, वह ( निज कर्म ) अपने भाव का ( छे कर्ता ) कर्ता है ( छे भोक्ता ) अपने भाव का भोक्ता है, ( वळी ) और ( मोक्ष छे ) पूर्ण पवित्रता प्राप्त की जा सकती है, ( मोक्ष ) उस पवित्रता का ( उपाय ) उपाय ( सुधर्म ) त्रिकाली सच्चा धर्म है ॥४३॥

सरलार्थ—आत्मा का अस्तित्व है, वह नित्य है; वह अपने भाव का कर्ता है; अपने भाव का भोक्ता है; और पूर्ण पवित्रता को प्राप्त किया जा सकता है; उस पवित्रता का उपाय त्रिकाली सच्चा धर्म है।

## षट्स्थानक में षट् दर्शन



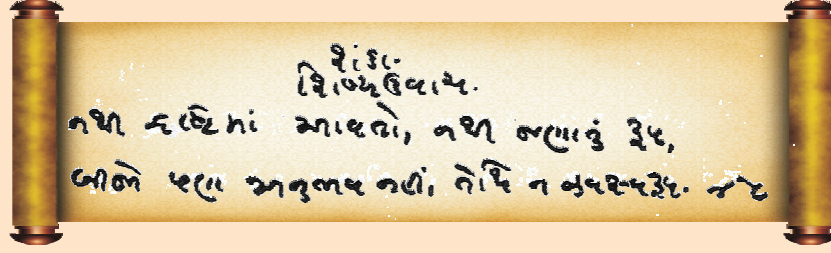
षट्स्थानक संक्षेपमां, षट्दर्शन पण तेह;  
समजाववा परमार्थने, कहां ज्ञानीए एह ॥४४॥

षट्स्थानक संक्षेप में, षट्दर्शन भी यही।  
समझाने परमार्थ को, ज्ञानी कहें सही ॥४४॥

**अन्वयार्थ—**( षट्दर्शन ) जगत में प्रचलित दूसरी धार्मिक मान्यताओं के छह भेद हैं, उन्हें इकट्ठा लें ( पण तेह ) तो वह भी छह स्थानरूप होते हैं अर्थात् छह में से एक-एक दर्शन थोड़े-थोड़े स्थानक पद मात्र को मानता है, ( षट्स्थानक ) सुधर्म छहों पदों को मानता है ( ऐह ) वे छह पद यहाँ ( ज्ञानीए ) ज्ञानियों ने कहे अनुसार ( परमार्थने ) आत्मा के त्रिकाली स्वभाव को ( समजाववा ) समझाने के लिये ( संक्षेपमां ) संक्षिप्त में ( कहां ) कहे हैं ॥४४॥

**सरलार्थ—**जगत में प्रवर्तमान दूसरी धार्मिक मान्यताओं के छह भेद हैं, उनको इकट्ठा लें तो वे भी छह स्थानकरूप होते हैं अर्थात् छह में से एक-एक दर्शन थोड़े-थोड़े स्थानक ( पद ) मात्र को मानता है। सुधर्म छहों पदों को मानता है, वे पद यहाँ ज्ञानियों ने कहे अनुसार आत्मा के त्रिकाली स्वभाव को समझाने के लिये संक्षिप्त में कहे हैं।

## शंका - १ ( शिष्य उवाच )



नथी दृष्टिमां आवतो, नथी जणातुं रूप;  
बीजो पण अनुभव नहीं, तेथी न जीवस्वरूप ॥४५॥

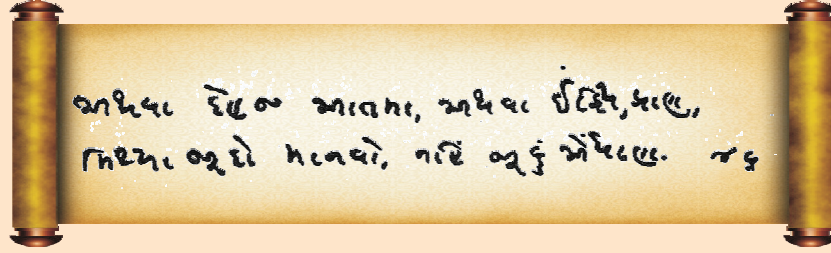
दृष्टि से दिखता नहीं, ज्ञात न होवे रूप।  
अन्य भी अनुभव नहीं, अतः न जीव-स्वरूप ॥४५॥

अन्वयार्थ—( दृष्टिमां ) आँखों से ( आवतो ) दिखता ( नथी ) नहीं, उसका ( रूप ) रंग कुछ ( जणातुं ) ज्ञात ( नथी ) नहीं और जीव का ( बीजो ) दूसरी इन्द्रियों से ( अनुभव ) अनुभव ( पण नहीं ) भी नहीं होता; ( तेथी ) इसलिए ( जीव ) जीव ( स्वरूप ) कोई वस्तु ( न ) नहीं है—ऐसा लगता है ॥ ४५ ॥

सरलार्थ—आँखों से दिखाई नहीं देता, उसका रंग कुछ ज्ञात नहीं होता और जीव का दूसरी इन्द्रियों से अनुभव भी नहीं होता, इसलिए जीव कोई वस्तु नहीं है—ऐसा लगता है ।



## शिष्य की आशंका...



अथवा देह ज आत्मा, अथवा इन्द्रिय प्राण;  
मिथ्या जुदो मानवो; नहीं जुदुं अंधाण ॥४६॥

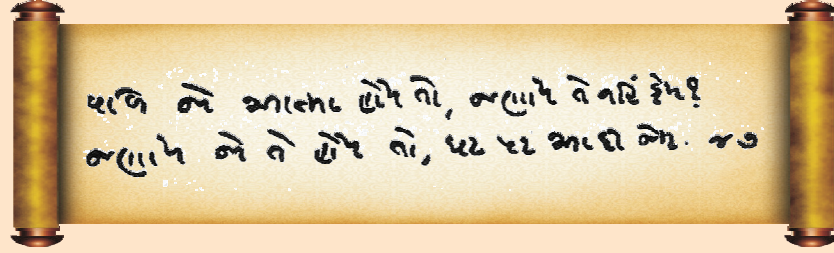
अथवा देह ही आत्मा, अथवा इन्द्रिय प्राण।  
मिथ्या भिन्न है मानना, भिन्न नहीं पहचान ॥४६॥

---

अन्वयार्थ—( अथवा ) अथवा ( देह ज ) शरीर ही ( आत्मा ) जीव है ( अथवा )  
अथवा ( इन्द्रिय ) इन्द्रियाँ और ( प्राण ) श्वासोच्छ्वास जीव है, इसलिए जीव ( जुदो )  
भिन्न ( मानवो ) मानना, वह ( मिथ्या ) खोटा है क्योंकि उसकी ( जुदुं ) पृथक्  
( अंधाण ) निशानी ( नहीं ) दृष्टिगोचर नहीं होती ॥४६॥

सरलार्थ—अथवा शरीर ही जीव है अथवा इन्द्रियाँ और श्वासोच्छ्वास जीव है;  
इसलिए जीव पृथक् मानना, वह मिथ्या है, क्योंकि उसकी भिन्न निशानी ( चिह्न ) दृष्टिगत  
नहीं होती ।

## शिष्य की आशंका...



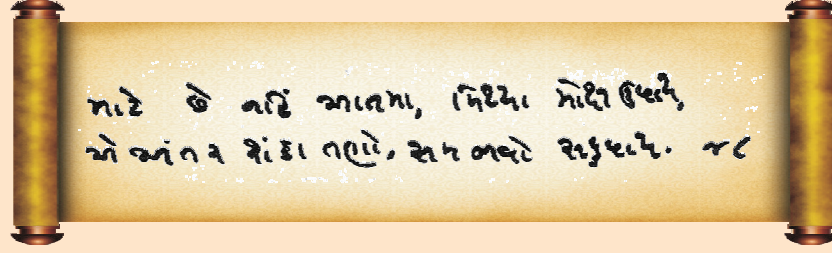
वळी जो आत्मा होय तो, जणाय ते नहीं केम ?  
जणाय जो ते होय तो, घट पट आदि जेम ॥४७॥

अरु होवे यदि आत्मा, काहे न प्रगट लखात ।  
लखाय जो होवे यथा, घट-पटादि विख्यात ॥४७॥

अन्वयार्थ—( वळी ) और ( जो ) यदि ( आत्मा ) आत्मा ( होय ) होय ( तो ) तो ( ते ) वह ( केम ) क्यों ( जणाय ) ज्ञात ( नहीं ) नहीं होता ? ( जो ) यदि ( ते ) वह ( होय ) हो ( तो ) तो ( घट ) घड़ा ( पट ) वस्त्र ( आदि ) इत्यादि पदार्थ ज्ञात होते हैं, ( जेम ) वैसे ( जणाय ) ज्ञात होना चाहिए ॥४७॥

सरलार्थ—और यदि आत्मा हो तो वह ज्ञात क्यों नहीं होता ? यदि वह हो तो जिस प्रकार घट, वस्त्र इत्यादि पदार्थ ज्ञात होते हैं, उसी प्रकार ज्ञात होना चाहिए ।

## शिष्य की शंका... सारांश



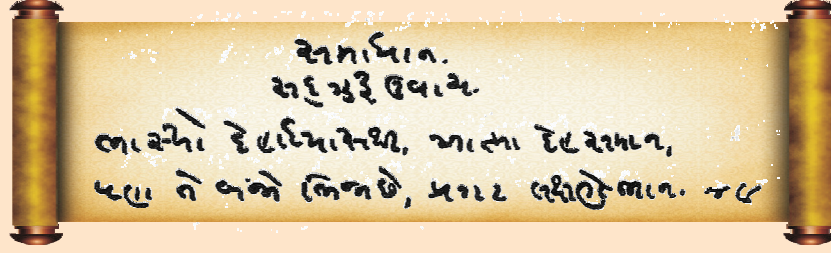
माटे छे नहीं आतमा, मिथ्या मोक्षउपाय;  
ए अंतर शंकातणो, समजावो सदुपाय ॥४८॥

अतः नहीं है आत्मा, मिथ्या मोक्ष-उपाय।  
यह अन्तर शंका कही, समझावें सदुपाय ॥४८॥

अन्वयार्थ—( माटे ) इसलिए ( आतमा ) आत्मा ( छे-नहीं ) नहीं है, इसलिए  
( मोक्ष उपाय ) मोक्ष का उपाय ( मिथ्या ) व्यर्थ है। ( ऐ ) ऐसी ( अन्तर ) अन्तर की  
( शंकातणो ) शंका का ( सदुपाय ) सच्चा समाधान ( समझाओ ) आप समझाओ ॥४८॥

सरलार्थ—इसलिए आत्मा नहीं है, इस कारण मोक्ष का उपाय व्यर्थ है, ऐसी  
अन्तर की शंका का सच्चा समाधान आप समझाइये।

## शंका एक का समाधान ( सद्गुरु उवाच )



भास्यो देहाध्यासथी, आत्मा देह समान;  
पण ते बन्ने भिन्न छे, प्रगटे लक्षणो भान ॥४९॥

भासा देहाध्यास से, आत्मा देह-समान।  
पर वे दोनों भिन्न हैं, लक्षण भिन्न प्रमाण ॥४९॥

**अन्वयार्थ—**( देहाध्यासथी ) जीव और देह एक ही है, ऐसी उल्टी मान्यता से अर्थात् जीव देह का कार्य कर सकता है, ऐसी मिथ्या मान्यता से ( आत्मा ) आत्मा और ( देह ) शरीर ( समान ) एकरूप ( भास्यो ) भासित होता है ( पण ) किन्तु ( ते ) वे ( बन्ने ) दोनों ( भिन्न छे ) भिन्न हैं अर्थात् एक-दूसरे का कुछ नहीं कर सकते, ऐसा ( प्रगट ) स्पष्ट ( लक्षणो ) चिह्नों द्वारा ( भान ) भान होता है ॥४९॥

**सरलार्थ—**जीव और देह एक है, ऐसा अनादि काल के अज्ञान से अर्थात् कि जीव शरीर के कार्य कर सकता है, ऐसी विपरीत मान्यता से आत्मा और शरीर एकरूप भासित होता है। परन्तु वे दोनों भिन्न हैं अर्थात् कि एक-दूसरे का कुछ नहीं कर सकते, ऐसा प्रगट लक्षण द्वारा भान होता है।

## गुरु द्वारा दृष्टान्तपूर्वक समाधान

भास्यो देहाध्यासथी, आत्मा देहसमान,  
पण ते बन्ने भिन्न छे, जेम असि ने म्यान. ८०

भास्यो देहाध्यासथी, आत्मा देह समान;  
पण ते बन्ने भिन्न छे, जेम असि ने म्यान ॥५०॥

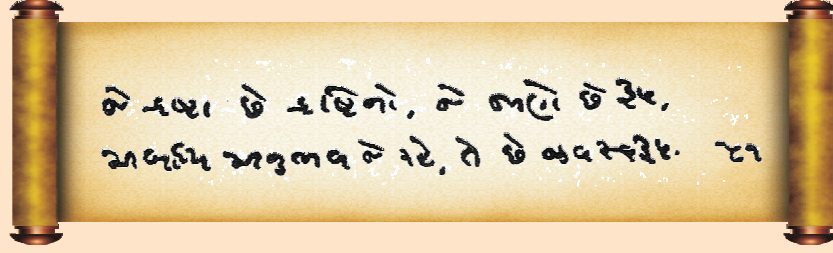
भासा देहाध्यास से, आत्मा देह-समान।  
पर वे दोनों भिन्न हैं, जैसे असि अरु म्यान ॥५०॥

**अन्वयार्थ—**( देहाध्यासथी ) जीव और देह एक है, ऐसे अनादि काल के अज्ञान से अर्थात् कि जीव, शरीर का कार्य कर सकता है, ऐसी विपरीत मान्यता से ( आत्मा ) आत्मा और ( देह ) शरीर ( समान ) एकरूप ( भास्यो ) भासित होते हैं ( पण ) परन्तु ( ते ) वे ( बन्ने ) दोनों ( भिन्न छे ) पृथक् हैं अर्थात् कि एक-दूसरे का कुछ नहीं कर सकते, ( जेम ) जैसे ( असि ) तलवार ( ने ) और ( म्यान ) म्यान पृथक् हैं उसी प्रकार; अर्थात् तलवार का काम म्यान नहीं कर सकती और म्यान का काम तलवार नहीं कर सकती ॥५०॥

**सरलार्थ—** जीव और देह एक है, ऐसी उल्टी मान्यता से अर्थात् जीव शरीर के कार्य कर सकता है, ऐसी मिथ्या मान्यता से आत्मा और शरीर एकरूप भासित हुआ है, परन्तु वे दोनों भिन्न हैं; इसलिए एक-दूसरे का कुछ नहीं कर सकते। जिस प्रकार तलवार और म्यान भिन्न हैं, इसलिए तलवार का काम म्यान और म्यान का काम तलवार नहीं कर सकती।



## ऐसा है जीवस्वरूप



जे दृष्टा छे दृष्टिनो, जे जाणे छे रूप;  
अबाध्य अनुभव जे रहे, ते छे जीवस्वरूप ॥५१॥

जो दृष्टा है दृष्टि का, जो जानत है रूप।  
अबाध्य अनुभव जो रहे, वह है जीव-स्वरूप ॥५१॥

अन्वयार्थ—( जे ) जो ( दृष्टिनो ) आँख का ( दृष्टा छे ) जाननेवाला है और ( जे ) जो ( रूप ) रंग का ( जाणे छे ) जाननेवाला है तथा ( अबाध्य ) किसी के रोके बिना ( अनुभव ) जैसा है, वैसा ज्ञान का ( जे रहे ) जो जाननेवाला रहता है, ( ते ) वही ( जीवस्वरूप छे ) जीव का स्वरूप है। अर्थात् जीव किसी की सहायता बिना स्वतन्त्ररूप से अपने को और पर को जैसा का तैसा जानता है ॥५१॥

सरलार्थ—जो आँख का जाननेवाला है, जो रूप का जाननेवाला है, जो किसी के अवरोध बिना ज्यों का त्यों ज्ञान का जो जाननेवाला रहता है, वही जीव का स्वरूप है। अर्थात् जीव किसी की सहायता बिना स्वतन्त्ररूप से अपने को और पर को ज्यों का त्यों जानता है।

## ऐसा है ज्ञानस्वरूपी आत्मा

छे इंद्रिये प्रत्येकने, निज-निज विषयं ज्ञान,  
पांच इंद्रियना विषयं, पण आत्माने भान ॥५२॥

छे इंद्रिय प्रत्येकने, निज निज विषयं ज्ञान;  
पांच इंद्रियना विषयं, पण आत्माने भान ॥५२॥

है इंद्रिय प्रत्येक को, निज-निज विषय का ज्ञान।  
पाँच इंद्रिय विषय का, पर आत्मा को भान ॥५२॥

अन्वयार्थ—( इंद्रिय प्रत्येकने ) प्रत्येक इंद्रिय को ( निज निज ) अपने-अपने योग्य ( विषयं ) पदार्थों का ( ज्ञान छे ) ज्ञान होता है, ( पण ) परन्तु ( पांच इंद्रियना ) पाँचों इंद्रियों द्वारा ज्ञात ( विषयं ) पदार्थों का ( आत्माने ) अकेले आत्मा को ही ( भान ) ज्ञान होता है। इंद्रियाँ जड़ हैं; इसलिए वे ज्ञान नहीं करती, किन्तु ज्ञान में निमित्त हैं; इसलिए इंद्रिय को ज्ञान होता है, ऐसा उपचार से कहा है ॥५२॥

सरलार्थ—प्रत्येक इंद्रिय को अपने-अपने योग्य विषय का ज्ञान होता है, किन्तु पाँचों इंद्रियों द्वारा जाने हुए पदार्थों का ज्ञान तो मात्र आत्मा को ही होता है।

## आत्मसत्ता से ही ज्ञान-प्रवर्तन

देह न जाणे तेहने, जाणे न इन्द्रिय प्राण,  
आत्मान सत्ता वडे तेह प्रवर्ते जाण ॥५३॥

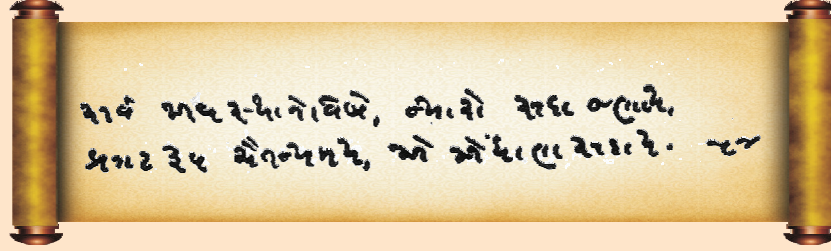
देह न जाणे तेहने, जाणे न इन्द्रिय प्राण;  
आत्मान सत्ता वडे, तेह प्रवर्ते जाण ॥५३॥

देह न जानत विषय को, जानें न इन्द्रिय-प्राण ।  
पर आत्मा की सत्ता से, होत विषय पहिचान ॥५३॥

अन्वयार्थ—( देह ) शरीर ( तेहने ) उन पदार्थों को ( जाणे न ) जानता नहीं, ( इन्द्रिय ) इन्द्रियाँ और ( प्राण ) श्वासोच्छ्वास भी उन्हें—पदार्थों को ( जाणे न ) नहीं जानते ( आत्मान ) जब तक आत्मा की ( सत्ता वडे ) उपस्थिति हो, तब तक ( तेह ) शरीर, इन्द्रियाँ और श्वासोच्छ्वास ( प्रवर्ते ) अपने-अपने से प्रवर्तते हैं, ( जाण ) ऐसा जानना चाहिए ॥५३॥

सरलार्थ—शरीर उन पदार्थों को जानता नहीं, इन्द्रियाँ और श्वासोच्छ्वास भी उन पदार्थों को जानते नहीं । जब तक आत्मा की उपस्थिति हो, तब तक शरीर, इन्द्रियाँ और श्वासोच्छ्वास अपने-अपने से प्रवर्तित होते हैं, ऐसा जानना चाहिए ।

## आत्मा का त्रिकाली चिह्न



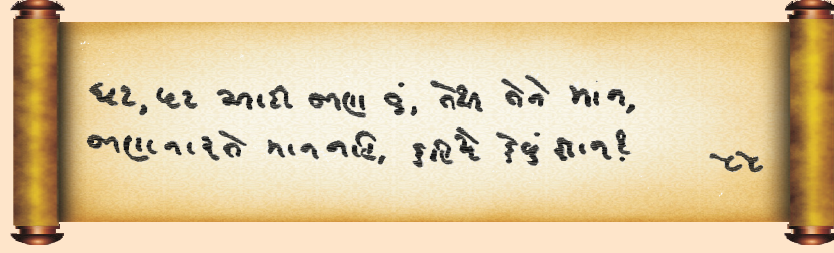
सर्व अवस्थाने विषे, न्यारो सदा जणाय;  
प्रगटरूप चैतन्यमय, ए अंधाण सदाय ॥५४॥

सर्व अवस्था में सदा, भिन्न रूप जनाय।  
प्रगट रूप चैतन्यमय, लक्षण यही सदाय ॥५४॥

अन्वयार्थ—( सभी ) सर्व ( अवस्थाने विषे ) दशाओं में ( न्यारो ) आत्मा भिन्न  
( सदा ) सदा ( जणाय ) ज्ञात होता है और ( प्रगटरूप ) स्पष्ट—प्रत्यक्ष ( चैतन्यमय )  
ज्ञान-दर्शनपना ( रहे ) वह उसका ( सदाय ) त्रिकाली ( अंधाण ) चिह्न है ॥५४॥

सरलार्थ—समस्त दशाओं में आत्मा सदा भिन्न ज्ञात होता है और स्पष्ट—प्रत्यक्ष  
चैतन्यमय अर्थात् ज्ञान-दर्शनरूप, वह उसका त्रिकाली चिह्न है।

## उसे ज्ञान कैसे कहें ?



घट, पट आदि जाण तुं, तेथी तेने मान;  
जाणनारने मान नहि, कहिये केवुं ज्ञान? ॥५५॥

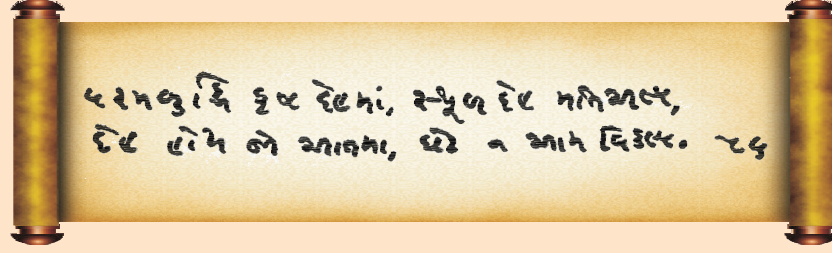
जानत घट-पट आदि तू, तातें ताको मान।  
ज्ञाता को मानत नहीं, यह कैसो तुझ ज्ञान ॥५५॥

अन्वयार्थ—( तुं ) हे शिष्य! तुम ( घट ) घड़ा ( पट ) वस्त्र ( आदि ) इत्यादि को ( जाण ) जानता है, ( तेथी ) इसलिए ( तेने ) वे हैं ( मान ) ऐसा तू मानता है ( पण ) परन्तु ( ते जाणनार ) उनके जाननेवाले को तू ( मान ) मानता ( नहि ) नहीं, ( ज्ञान ) यह तेरे ज्ञान को ( केवुं ) कैसा ( कहिये ) कहना? !!५५!!

सरलार्थ—हे शिष्य! तू घड़े इत्यादि को जानता है, इसलिए 'वे हैं'—ऐसा तू मानता है। परन्तु उनके जाननेवाले को तू मानता नहीं, यह तेरे ज्ञान को कैसा कहना?



## शरीर और आत्मा की पृथक्ता की युक्ति



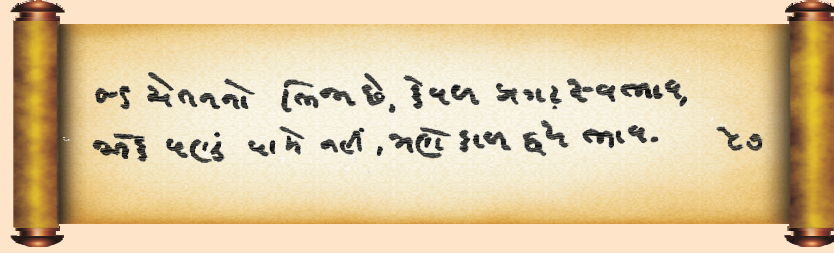
परम बुद्धि कृष देहमां, स्थूल देह मति अल्प;  
देह होय जो आत्मा, घटे न आम विकल्प ॥५६ ॥

परम बुद्धि कृष देह में, स्थूल देह मति अल्प ।  
देह होय यदि आत्मा, घटित न हों ये विकल्प ॥५६ ॥

अन्वयार्थ—( कृष ) किसी दुर्बल ( देहमां ) शरीरवाले जीव को ( परम ) बहुत ( बुद्धि ) बुद्धि होती है और ( स्थूल ) मोटे ( देह ) शरीरवाले जीव को ( मति अल्प ) थोड़ी बुद्धि भी दिखाई देती है, ( जो ) यदि ( देह ) शरीर, वही ( आत्मा होय ) आत्मा हो तो ( आम ) ऐसा ( विकल्प ) विरोध ( घटे ) हो ( न ) नहीं ॥५६ ॥

सरलार्थ—किसी दुर्बल शरीरवाले जीव को विशिष्ट बुद्धि होती है और किसी स्थूल शरीरवाले जीव को अल्प बुद्धि भी दृष्टिगोचर होती है । यदि शरीर ही आत्मा हो तो ऐसा विरोध नहीं हो सकता । तात्पर्य यह है कि यदि शरीर और आत्मा एक ही हो तो कृष शरीरवाले को अल्प और स्थूल शरीरवाले को विशाल बुद्धि होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता, यह शरीर और आत्मा की पृथक्ता का प्रमाण है ।

## जड़-चेतन तीनों काल सर्वथा भिन्न



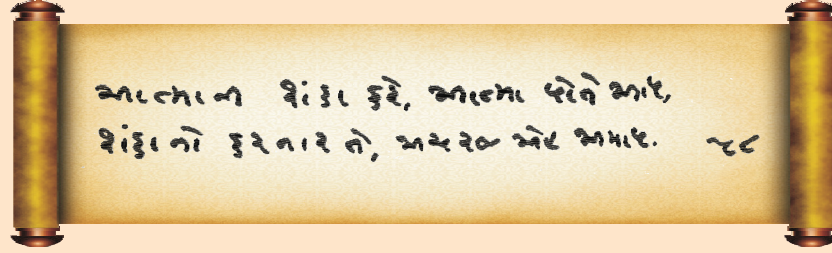
जड़ चेतनो भिन्न छे, केवल प्रगट स्वभाव;  
एकपणुं पामे नहि, त्रणे काल द्वयभाव॥५७॥

जड़-चेतन का भिन्न है, केवल प्रगट स्वभाव ।  
एकपना पावे नहीं, तीन काल द्वयभाव॥५७॥

अन्वयार्थ—( जड़ ) जड़ ( चेतनो ) और चेतन / जीव का ( स्वभाव ) स्वभाव ( केवल ) सम्पूर्ण रीति से ( प्रगट ) स्पष्ट ( भिन्न छे ) पृथक् है अर्थात् दोनों भिन्न होने से जड़ और चेतन एक-दूसरे का कुछ नहीं कर सकते, वे ( एकपणुं ) एकमेकपना ( पामे ) प्राप्त ( नहीं ) नहीं करते और ( त्रणे काल ) त्रिकाल ( द्वयभाव ) द्विपना / भिन्नपना टिकाये रखते हैं ॥५७॥

सरलार्थ—जड़ और चेतन का स्वभाव सम्पूर्ण रीति से स्पष्टतः पृथक्-पृथक् है, इसलिए दोनों भिन्न होने से, जड़ और चेतन एक-दूसरे का कुछ नहीं कर सकते । वे कभी भी एकत्वपने को प्राप्त नहीं होते और त्रिकाल द्विपना अर्थात् भिन्नता को टिकाये रखते हैं ।

## आत्मा की शंका करनेवाला ही स्वयं आत्मा



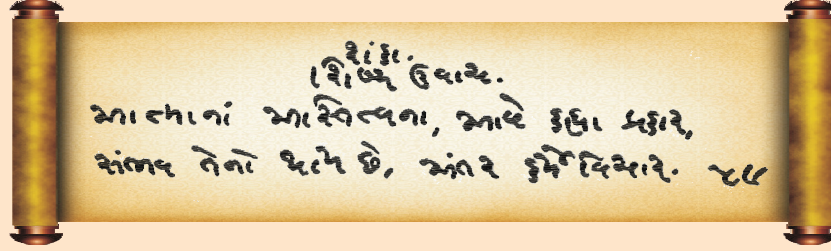
आत्माना शंका करे, आत्मा पोते आप;  
शंकानो करनार ते, अचरज एह अमाप ॥५८॥

आत्मा की शंका करे, आत्मा स्वयं ही आप।  
शंका का कर्ता वही, अचरज यही अमाप ॥५८॥

अन्वयार्थ—( आत्माना ) अपने अस्तित्व की ( शंका ) शंका ( आत्मा ) आत्मा ( पोते ) स्वयं ( आप ) अपने आप से ( करे ) करता है; ऐसी ( शंकानो ) शंका का ( करनार ) करनेवाला ( ते ) वह आत्मा है, ऐसा स्वयं जानता नहीं, ( एह ) यह ( अमाप ) अपार ( अचरज ) आश्चर्य है ॥५८॥

सरलार्थ—अपने अस्तित्व की शंका आत्मा स्वयं स्वतः करता है, इसलिए शंका का करनेवाला वही आत्मा है, ऐसा स्वयं जानता नहीं, यह अपार / घोर आश्चर्य है।

## शंका २ : शिष्य उवाच



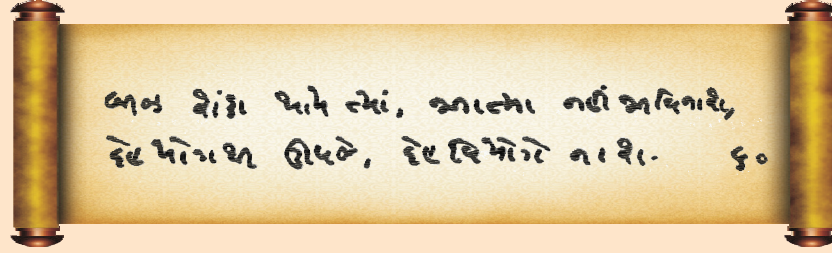
आत्माना अस्तित्वना, आपे कया प्रकार;  
संभव तेनो थाय छे, अंतर कये विचार ॥५९॥

आत्मा के अस्तित्व के, आप जु कहे प्रकार।  
संभव उसका होय है, अन्तर किया विचार ॥५९॥

अन्वयार्थ—( आत्माना ) आत्मा के ( अस्तित्वना ) अस्तित्व के ( आपे ) आपश्री ने ( प्रकार ) कारण ( कया ) समझाये, ( तेनो ) उनका ( अंतर ) आत्मा के साथ ( विचार कये ) विचार करने से ( संभव ) आत्मा का अस्तित्व ( थाय छे ) ज्ञात होता है ॥५९॥

सरलार्थ—आपश्री ने आत्मा के अस्तित्व के कारण समझाये, उनका आत्मा के साथ विचार करने से आत्मा का अस्तित्व ज्ञात होता है।

## दूसरी शंका : आत्मा नित्य नहीं



बीजी शंका थाय त्यां, आत्मा नहि अविनाश;  
देहयोगथी उपजे, देहवियोगे नाश ॥६०॥

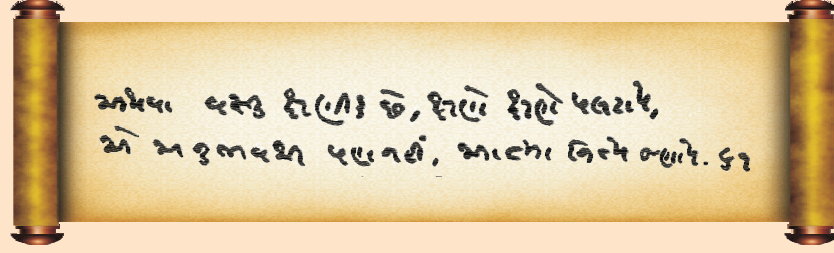
दूजी शंका हो यहाँ, आत्मा नहिं अविनाश।  
उपजे देह-संयोग से, देह-वियोग से नाश ॥६०॥

अन्वयार्थ—अब मुझे ( त्यां ) आत्मा में ( बीजी ) दूसरी ( शंका ) शंका ( थाय ) होती है कि ( आत्मा ) आत्मा ( अविनाश ) नाशरहित ( नहिं ) नहीं है और यह ( देहयोगथी ) देह के रजकण इकट्ठे होने से ( उपजे ) उत्पन्न होता है और ( देहवियोगे ) देह के नाश से उसका ( नाश ) नाश होता है ॥६०॥

सरलार्थ—शिष्य कहता है कि अब मुझे आत्मा में दूसरी शंका होती है कि आत्मा नाशरहित अर्थात् अविनाशी नहीं है और वह देह के रजकण एकत्रित होने से उत्पन्न होता है और देह के नाश से उसका भी नाश होता है।



## आत्मा की अनित्यता के समर्थन में शिष्य का दूसरा तर्क



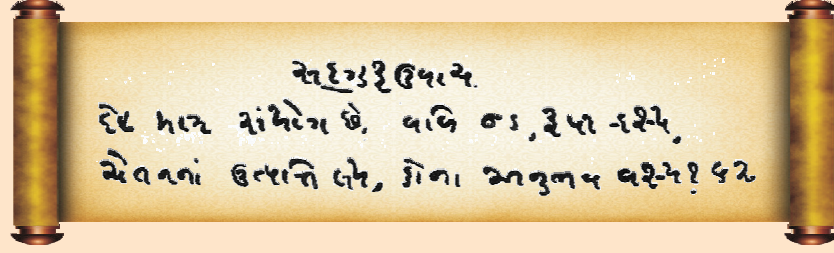
अथवा वस्तु क्षणिक छे, क्षणे क्षणे पलटाय;  
अे अनुभवथी पण नहि, आत्मा नित्य जणाय ॥६१ ॥

अथवा वस्तु क्षणिक है, क्षण-क्षण में पलटाय ।  
इस अनुभव से भी नहीं, आत्मा नित्य जणाय ॥६१ ॥

अन्वयार्थ—( अथवा ) अथवा ( वस्तु ) सर्व पदार्थ ( क्षणे क्षणे ) प्रत्येक क्षण में ( पलटाय ) बदलते हैं, इसलिए ( क्षणिक ) क्षणमात्र टिकनेवाले ( छे ) है, ( अे ) ऐसे ( अनुभवथी ) अनुभव से देखने पर मुझे ( आत्मा ) आत्मा ( पण ) भी ( नित्य ) कायम टिकनेवाला ( जणाय ) ज्ञात ( नहिं ) नहीं होता ॥६१ ॥

सरलार्थ—अथवा समस्त पदार्थ प्रतिक्षण—प्रत्येक क्षण में बदलते हैं, इसलिए क्षणमात्र टिकनेवाले हैं, ऐसा अनुभव से देखने पर मुझे आत्मा भी शाश्वत् टिकनेवाला ज्ञात नहीं होता ।

## शंका २ समाधान : सद्गुरु उवाच



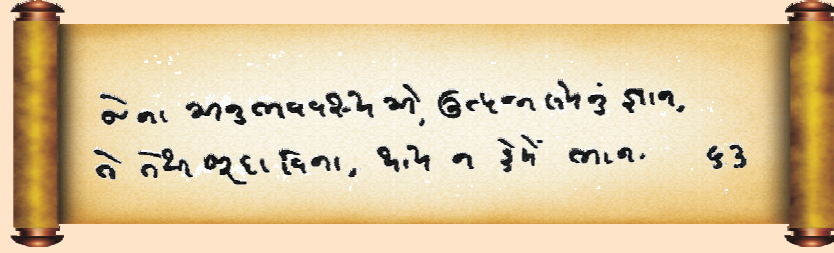
देह मात्र संयोग छे, वळी जड़, रूपी, दृश्य;  
चेतननां उत्पत्ति लय, कोना अनुभव वश्य ? ॥६२॥

देह मात्र संयोग है, अरु जड़ रूपी दृश्य।  
चेतन के उत्पाद-व्यय, किसके अनुभव वश्य ? ॥६२॥

अन्वयार्थ—( देह ) शरीर ( मात्र ) मात्र ( संयोग ) परमाणुओं का जत्था / पिण्ड ( छे ) है ( वळी ) और वह ( जड़ ) ज्ञानरहित ( रूपी ) रूप इत्यादिवाला, ( दृश्य ) देखा जा सके ऐसा है, तो फिर ( चेतननां ) चेतन के ( उत्पत्ति ) उपजना और ( लय ) उसका नाश होना, वह ( कोना ) किसके ( अनुभव ) ज्ञान के ( वश्य ) आधार से जाना ? ॥६२॥

सरलार्थ—शरीरमात्र परमाणुओं का पिण्ड है और वह ज्ञानरहित, रूप इत्यादिवाला, दृष्टिगोचर हो सके ऐसा है तो फिर चेतन उत्पन्न हुआ और उसका नाश हुआ, यह किसके ज्ञान के आधार से जाना ?

## यदि जाननेवाला भिन्न न हो तो... ?



जेना अनुभव वश्य ए, उत्पन्न लयनुं ज्ञान;  
ते तेथी जुदा विना, थाय न केमे भान ॥६३॥

जिसके अनुभव वश में यह, उत्पाद-व्यय का ज्ञान।  
होय नहीं यदि भिन्न वह, कैसे उसको भान ? ॥६३॥

अन्वयार्थ—( जेना ) जिसके ( अनुभव ) ज्ञान के ( वश्य ए ) आधार से ( उत्पन्न ) उपजनेवाला और ( लयनुं ) नाश का ( ज्ञान ) जानपना होता है, ( ते ) वह ( तेथी ) उत्पत्ति और नाश से ( जुदा ) पृथक् पदार्थ ( विना ) बिना ( केमे ) किसी भी प्रकार से ( भान ) वैसा भान ( थाय ) होता ( न ) नहीं ॥६३॥

सरलार्थ—जिसके ज्ञान के आधार से उस उत्पत्ति और नाश का ज्ञान होता है, वह उत्पत्ति और नाश से भिन्न पदार्थ के बिना किसी भी प्रकार से वैसा भान नहीं होता ।

## आत्मा प्रत्यक्ष नित्य है

जे संयोगो देखिये, ते ते अनुभव दृश्यः  
उपजे नहि संयोगथी, आत्मा नित्य प्रत्यक्षः ६४

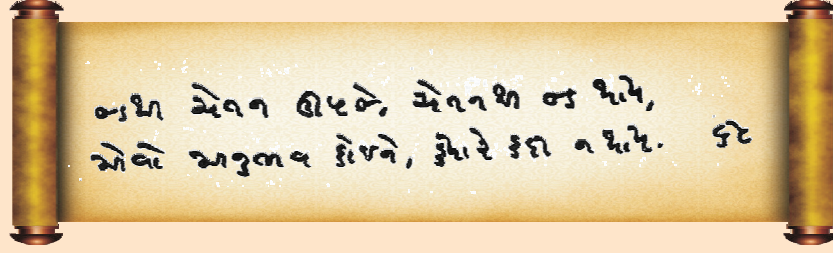
जे संयोगो देखिये, ते ते अनुभव दृश्य;  
ऊपजे नहि संयोगथी, आत्मा नित्य प्रत्यक्ष ॥६४॥

देहादिक संयोग सब, अनुभव से हों दृश्य।  
उपजे नहि संयोग से, आत्मा नित्य प्रत्यक्ष ॥६४॥

अन्वयार्थ—( जे ) जो-जो ( संयोगो ) संयोग ( देखिये ) दृष्टिगोचर होते हैं, ( ते ते ) वे-वे ( अनुभव ) ज्ञान में ( दृश्य ) ज्ञात होते हैं परन्तु ( आत्मा ) आत्मा ( संयोगथी ) संयोग से ( ऊपजे ) उत्पन्न ( नहि ) नहीं होता। इसलिए आत्मा ( नित्य ) त्रिकाली है और ( प्रत्यक्ष ) स्वयं अपने से ही सीधा ज्ञात हो, ऐसा है ॥६४॥

सरलार्थ—जो-जो संयोग दिखाई देते हैं, वे ज्ञान में ज्ञात होते हैं परन्तु आत्मा संयोगों से उत्पन्न नहीं होता, इसलिए आत्मा त्रिकाली है और स्वयं अपने से ही सीधे ( प्रत्यक्ष ) ज्ञात होनेयोग्य है।

## जड़ से चेतन और चेतन से जड़ उत्पन्न नहीं होता



जड़थी चेतन ऊपजे, चेतनथी जड़ थाय;  
एवो अनुभव कोईने, क्यारे कदी न थाय ॥६५॥

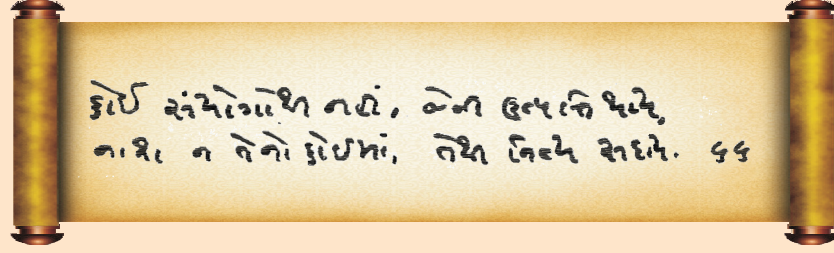
जड़ से चेतन उपजता, चेतन से जड़ होय।  
ऐसा अनुभव किसी को, नहीं कभी भी होय ॥६५॥

अन्वयार्थ—( जड़थी ) नहीं जाननेवाले पदार्थों से ( चेतन ) जानपना ( ऊपजे ) हो और ( चेतनथी ) जानपने से ( जड़ ) जड़ पदार्थ ( थाय ) उत्पन्न हो, ( एवो ) ऐसा ( कोईने ) किसी को ( क्यारे ) कहीं और ( कदी ) कभी भी ( अनुभव ) अनुभव ( थाय न ) नहीं होता ॥६५॥

सरलार्थ—न जाननेवाले जड़ पदार्थों से जानपना हो और जानपने से अर्थात् चेतन से जड़ पदार्थ उत्पन्न हों, ऐसा अनुभव किसी को कहीं और कभी नहीं होता ।



## किसी संयोग से आत्मा की उत्पत्ति-नाश नहीं



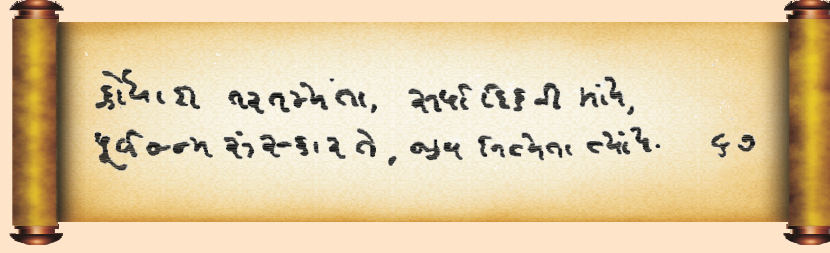
कोई संयोगोत्थी नहिं, जेनी उत्पत्ति थाय;  
नाश न तेनो कोईमां, तेथी नित्य सदाय ॥६६॥

कोई भी संयोग से, कभी नहीं उपजाय।  
नाश न होता किसी में, इससे नित्य सदाय ॥६६॥

अन्वयार्थ—( कोई ) किन्ही भी ( संयोगोत्थी ) संयोग से ( जेनी ) जिस पदार्थ का ( उत्पत्ति ) उपजना ( थाय ) होता ( नहिं ) नहीं, ( तेनो ) उसका ( नाश ) नाश ( कोईमां ) किसी में ( न ) होता नहीं ( तेथी ) इसलिए आत्मा ( सदाय ) त्रिकाल ( नित्य ) नित्य है ॥६६॥

सरलार्थ—किन्हीं भी संयोगों से जिस पदार्थ का उत्पन्न होना नहीं होता, उसका नाश किसी में नहीं होता, इसलिए आत्मा त्रिकाल नित्य है।

## पूर्वजन्म संस्कार से जीव की नित्यता की सिद्धि



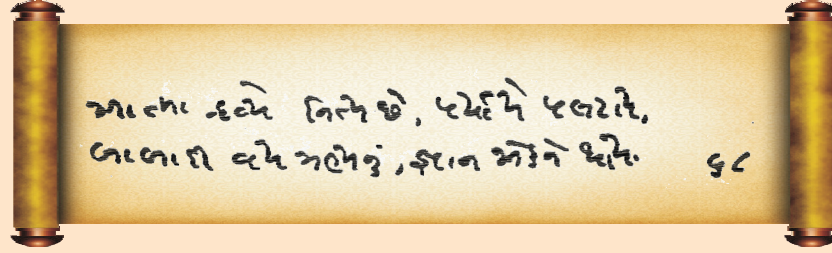
क्रोधादि तरतम्यता, सर्पादिकनी मांय;  
पूर्वजन्म संस्कार ते, जीव-नित्यता त्वांय ॥६७॥

क्रोधादिक तरतम्यता, सर्पादिक में होय।  
पूर्व-जन्म-संस्कार यह, जीव-नित्यता सोय ॥६७॥

अन्वयार्थ—( सर्पादिकनी मांय ) सर्प इत्यादि प्राणियों में ( क्रोधादि ) क्रोध इत्यादि की ( तरतम्यता ) हीनाधिक दिखाई देती है ( ते ) वह ( पूर्व ) पिछले ( जन्म ) भव के ( संस्कार ) संस्कार है और ( त्वांय ) उसके द्वारा ( जीव ) जीव का ( नित्यता ) त्रिकालीपना अर्थात् अनादि-अनन्तपना सिद्ध होता है ॥६७॥

सरलार्थ—सर्प इत्यादि प्राणियों में क्रोधादि भावों की हीनाधिकता दृष्टिगोचर होती है, वह पूर्व भव के संस्कार हैं और उसके द्वारा जीव का त्रिकालीपना—अनादि-अनन्तपना सिद्ध होता है।

## आत्मा के नित्यानित्य सम्बन्धी विवक्षा



आत्मा द्रव्ये नित्ये छे, पर्याये पलटाय;  
बाळादि वय त्रण्यनुं, ज्ञान एकने थाय ॥६८ ॥

आत्मा द्रव्य से नित्य है, पर्याय से पलटाय।  
बाल आदि वय तीन का, ज्ञान एक को होय ॥६८ ॥

अन्वयार्थ—( आत्मा ) आत्मा ( द्रव्ये ) वस्तुरूप से ( नित्य ) कायम टिकनेवाला ( छे ) है और ( पर्याये ) अवस्था से ( पलटाय ) पलटता-बदलता है। ( बाळादि ) बाल, युवा और वृद्ध ( त्रण्यनुं ) इन तीनों ( वय ) आयु का ( ज्ञान ) जानपना ( एकने ) उसी एक जीव को ( थाय ) होता है ॥६८ ॥

सरलार्थ—आत्मा वस्तुरूप से अर्थात् द्रव्यरूप से शाश्वत् टिकनेवाला है और अवस्था से अर्थात् पर्याय से पलटता—बदलता है। बालक, युवा और वृद्ध इन तीनों उम्र का ज्ञान उसी एक जीव को होता है।

## ऐसा निर्धार कर

अथवा ज्ञान क्षणिकनुं, जे जाणि वदनार,  
वदनारो ते क्षणिक नहिं, कर अनुभव निर्धार-६९

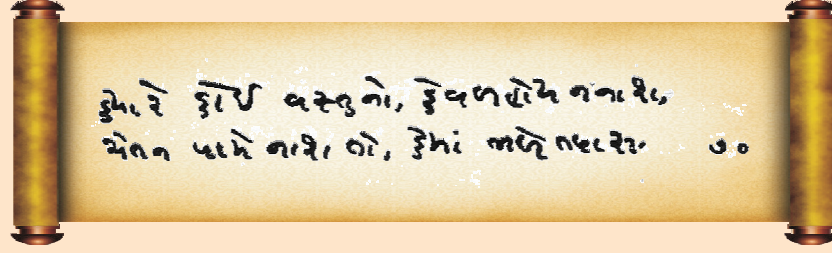
अथवा ज्ञान क्षणिकनुं, जे जाणि वदनार;  
वदनारो ते क्षणिक नहिं, कर अनुभव निर्धार ॥६९॥

अथवा ज्ञान क्षणिक का, जो ज्ञाता कहनार।  
कहने वाला क्षणिक नहिं, कर अनुभव निर्धार ॥६९॥

अन्वयार्थ—( अथवा ) अथवा ( क्षणिकनुं ) क्षणिकता का ( ज्ञान ) ज्ञान होता है, ऐसा ( जाणि ) जानकर ( जे ) जो ( वदनार ) बोलनेवाला है, ( ते ) वह ( वदनारो ) बोलने के भाव करनेवाला जीव ( क्षणिक ) नाश को प्राप्त हो, ऐसा ( नहिं ) नहीं, ऐसा ( अनुभव ) अनुभव से ( निर्धार ) आत्मा के त्रिकालीपने का निर्णय ( कर ) कर ॥६९॥

सरलार्थ—अथवा क्षणिकता का ज्ञान होता है, ऐसा जानकर जो बोलनेवाला है, वह बोलने के भाव करनेवाला जीव नाश को प्राप्त हो, ऐसा नहीं है। ऐसा अनुभव करके आत्मा की त्रैकालिकता का निर्णय कर।

## किसी वस्तु का सर्वथा नाश नहीं



क्यारे कोई वस्तु नो, केवल होय न नाश;  
चेतन पामे नाश तो, केमां भळे तपास ॥७० ॥

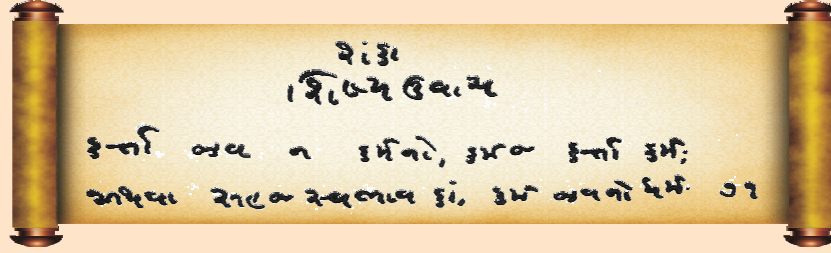
कभी न कोई वस्तु का, केवल होय न नाश ।  
चेतन पावे नाश तो, किसमें मिले तलाश ॥७० ॥

अन्वयार्थ—( कोई ) किसी ( वस्तु नो ) वस्तु का ( केवल ) सर्वथा ( क्यारे ) किसी भी समय ( नाश ) नाश ( होय न ) होता नहीं, इसलिए ( यदि ) यदि ( चेतन ) चैतन्यस्वरूप जीव ( नाश ) नाश ( पामे ) प्राप्त हो ( तो ) तो वह ( केमां ) किसमें ( भळे ) एकरूप हो जाता है, उसका ही ( तपास ) विचार करके निर्णय कर अर्थात् आत्मा किसी में मिल नहीं जाता अथवा कभी उसका सर्वथा नाश नहीं होता परन्तु वह कायम रहकर अवस्था बदलता है, ऐसा निर्णय कर ॥७० ॥

सरलार्थ—किसी वस्तु का सर्वथा नाश कभी नहीं होता, इसलिए जो चैतन्यस्वरूप जीव नष्ट हो तो वह किसमें एकरूप हो जाता है, उसका विचार करके निर्णय कर अर्थात् आत्मा किसी में मिल नहीं जाता अथवा उसका कभी सर्वथा नाश नहीं होता, किन्तु वह शाश्वत् रहता हुआ अवस्था बदलता है, ऐसा निर्णय कर ।



## शंका - ३ : शिष्य उवाच



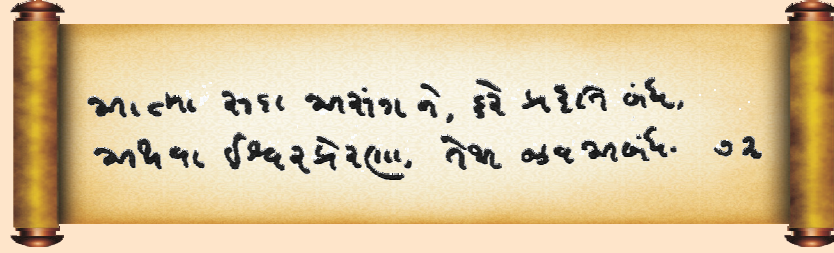
कर्ता जीव न कर्मनो, कर्म ज कर्ता कर्म;  
अथवा सहज स्वभाव कां, कर्म जीवनो धर्म ॥७१ ॥

कर्ता जीव न कर्म का, कर्म ही कर्ता कर्म।  
अथवा सहज स्वभाव या, कर्म जीव का धर्म ॥७१ ॥

अन्वयार्थ—( जीव ) जीव ( कर्मनो ) विकारी भाव ( कर्ता न ) कर्ता नहीं ( तथापि ) तथापि ( कर्म ज ) जड़ कर्म ही ( कर्म ) कर्म को अर्थात् विकारीभाव और जड़ कर्म को ( कर्ता ) करता है ( अथवा ) अथवा कर्म ( सहज ) अनायास ( स्वभाव ) स्वयं से हुआ करते हैं ( कां ) अथवा तो ( कर्म ) कर्म, वह ( जीवनो ) जीव का ( धर्म ) धर्म ही है ॥७१ ॥

सरलार्थ—जीव विकारी भाव कर्ता नहीं तो भी जड़ कर्म ही कर्म को अर्थात् विकारी भाव और जड़ कर्म को करता है अथवा कर्म सहज स्वयं से हुआ करते हैं, अथवा कर्म, वह जीव का धर्म है।

## शिष्य की आशंका....



आत्मा सदा असंग ने, करे प्रकृति बंध;  
अथवा ईश्वर प्रेरणा, तेथी जीव अबन्ध ॥७२॥

आत्म सदा असंग अरु, करे प्रकृति बन्ध।  
अथवा ईश्वर प्रेरणा, जातैं जीव अबन्ध ॥७२॥

अन्वयार्थ—( आत्मा ) आत्मा ( सदा ) हमेशा ( असंग ) निराला है ( ने ) और ( प्रकृति ) जड़ कर्म ( करे बन्ध ) जीव को बाँधता है, ( अथवा ) अथवा ( ईश्वर ) ईश्वर ( प्रेरणा ) कर्म करने की प्रेरणा करता है, ( तेथी ) इसलिए ( जीव ) जीव ( अबन्ध ) बाँधता नहीं है ॥७२॥

सरलार्थ—आत्मा हमेशा निराला है और जड़कर्म जीव को बाँधता है, अथवा ईश्वर कर्म करने की प्रेरणा करता है, इसलिए जीव बाँधता नहीं है ।

## शिष्य की आशंका...

माटे मोक्ष उपायनो, कोई न हेतु जणाय;  
कर्मतणुं कर्तापणुं, कां नहीं, कां नहीं जाय ॥७३॥

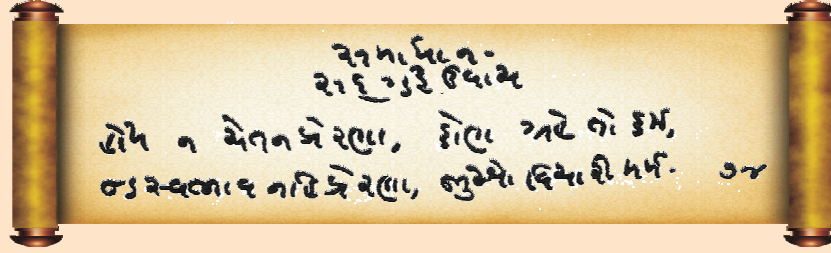
माटे मोक्ष उपायनो, कोई न हेतु जणाय;  
कर्मतणुं कर्तापणुं, कां नहीं, कां नहीं जाय ॥७३॥

तातैं मोक्ष उपाय का, कोई न हेतु लखात ।  
जीव कर्म-कर्तृत्व नहीं, हो यदि, तो न नशात ॥७३॥

अन्वयार्थ—( माटे ) ऐसा होने से ( मोक्ष उपायना ) मुक्त होने के उपाय का ( कोई ) कोई ( हेतु ) कारण ( जाणय न ) ज्ञात नहीं होता ( कर्मतणुं ) विकारी भाव का ( कर्तापणुं ) कर्तृत्व ( कां नहीं ) जीव को नहीं है ( कां नहीं जाय ) और होवे तो वह जाये, ऐसा नहीं है ॥७३॥

सरलार्थ—ऐसा होने से मुक्त होने के उपाय का कोई कारण ज्ञात नहीं होता ।  
विकारी भाव का कर्तृत्व जीव को नहीं और होवे तो वह जाये, ऐसा नहीं है ।

## शंका ३ का समाधान ( सद्गुरु उवाच )



होय न चेतन प्रेरणा, कोण ग्रहे तो कर्म ?  
जडस्वभाव नहिं प्रेरणा, जुओ विचारि धर्म ॥७४॥

होय न चेतन-प्रेरणा, कौन ग्रहे फिर कर्म ?  
जड़-स्वभाव नहिं प्रेरणा, खोजो याको मर्म ॥७४॥

अन्वयार्थ—( चेतन ) जीव ( प्रेरणा ) मनन ( न ) न ( होय ) करे ( तो ) तो ( कोण ) किसके साथ ( कर्म ) जड़कर्म ( ग्रहे ) एकक्षेत्र में इकट्ठे हों ? ( जडस्वभाव ) जड़ का स्वभाव ( प्रेरणा ) मनन ( नहिं ) करने का नहीं है, ऐसा ( मर्म ) जीव और जड़ के धर्म / स्वभाव ( विचारि ) विचारकर ( जुओ ) देखो तो खबर पड़ेगी ॥७४॥

सरलार्थ—यदि जीव मनन न करे तो किसके साथ जड़कर्म एकक्षेत्र में एकत्रित हों ? जड़ का स्वभाव मनन करने का नहीं है, इस प्रकार जड़ और जड़ के धर्म अर्थात् स्वभाव का विचार करके देखोगे तो विदित होगा ।

## विकारी भाव के बिना कर्म नहीं

जो चेतन इच्छुं नथी, नथी यतां तो कर्म,  
तेथी सहज स्वभाव नहिं, तेम ज नहिं जीवधर्म. ७५

जो चेतन करतुं नथी, नथी यतां तो कर्म;  
तेथी सहज स्वभाव नहिं, तेम ज नहिं जीवधर्म ॥७५ ॥

यदि चेतन करता नहीं, तो नहिं होता कर्म।  
तातैं सहज स्वभाव नहिं, नहीं जीव का धर्म ॥७५ ॥

अन्वयार्थ—( चेतन ) जीव ( जो ) यदि ( करतुं ) विकार भाव कर्ता ( नथी )  
नहीं हो ( तो ) तो ( कर्म ) रजकण / कार्मणवर्गणारूप रजकण कर्मरूप ( यतां ) होते  
( नथी ) नहीं; ( तेथी ) इसलिए कर्म ( सहज ) अनायास ( स्वभाव ) होते ( नहिं ) नहीं  
( तेम ज ) तथा कर्म वह ( जीवधर्म ) जीव का स्वभाव ( नहिं ) नहीं है ॥७५ ॥

सरलार्थ—यदि जीव विकारी भाव नहीं करता तो कार्मणवर्गणारूप रजकण  
कर्मरूप नहीं होते, इसलिए कर्म अनायास नहीं होते तथा कर्म, जीव का स्वभाव नहीं है।



## आत्मा परमार्थ से असंग है

केवल होत असंग जो, भासत तने न केम ?  
असंग छे परमार्थथी, पण निजभाने तेम ॥७६॥

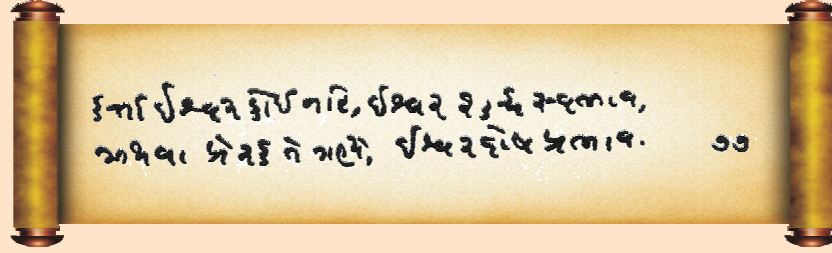
केवल होत असंग जो, भासत तने न केम ?  
असंग छे परमार्थथी, पण निजभाने तेम ॥७६॥

है असंग यदि सर्वथा, तुझे न भासे क्यों ?  
असंग है परमार्थ से, यदि निज अनुभव त्यों ॥७६॥

अन्वयार्थ—( जो ) यदि ( केवल ) सर्वथा ( असंग ) परसन्मुख का लक्ष्य किये बिना ( होत ) आत्मा रहता हो तो ( तने ) तुझे ( भासत ) वैसा ज्ञात ( केम ) क्यों ( न ) नहीं होता ? अर्थात् कि ज्ञात ही होता । ( परमार्थथी ) वस्तुदृष्टि से जीव ( असंग ) असंग ( छे ) है, ( पण ) परन्तु यदि वह ( निजभाने ) अपना भान करे तो ( तेम ) असंग रहे ॥७६॥

सरलार्थ—यदि आत्मा सर्वथा परसन्मुख का लक्ष्य किये बिना रहता हो तो वह तुझे वैसा क्यों ज्ञात नहीं होता ? अर्थात् अवश्य ज्ञात होता ही । वस्तुदृष्टि से जीव असंग है, परन्तु यदि वह अपना भान करे तो असंग रहे ।

## ईश्वर कर्ता नहीं



कर्ता ईश्वर कोई नहिं, ईश्वर शुद्ध स्वभाव;  
अथवा प्रेरक ते गण्ये, ईश्वर दोषप्रभाव ॥७७॥

कर्ता ईश्वर कोई नहिं, ईश्वर शुद्ध स्वभाव ।  
अथवा प्रेरक मानें तो, ईश्वर दोष-प्रभाव ॥७७॥

अन्वयार्थ—( कोई ) कोई ( ईश्वर ) ईश्वर ( कर्ता ) जगत का अथवा कर्म का कर्ता ( नहिं ) नहीं । ( शुद्ध स्वभाव ) जीव का शुद्ध स्वभाव, वही, ( ईश्वर ) ईश्वर है, ( अथवा ) अथवा ( ते ) उसे ( प्रेरक ) कर्म का करानेवाला ( गण्ये ) गिने तो ( ईश्वर ) ईश्वर ( दोषप्रभाव ) महान दोष का कर्ता होगा ॥७७॥

सरलार्थ—इस जगत का अथवा कर्मों का कर्ता कोई ईश्वर नहीं है; वस्तुतः जीव का शुद्धस्वभाव, वही ईश्वर है । अथवा उसे कर्म का करानेवाला माना जाये तो ईश्वर महान दोष का कर्ता होगा ।

## जीव के कर्ता-अकर्ता की विवक्षा

चेतन जो निज भानमां, कर्ता आप स्वभाव,  
वर्ते नहिं निज भानमां, कर्ता कर्म प्रभाव. ७८

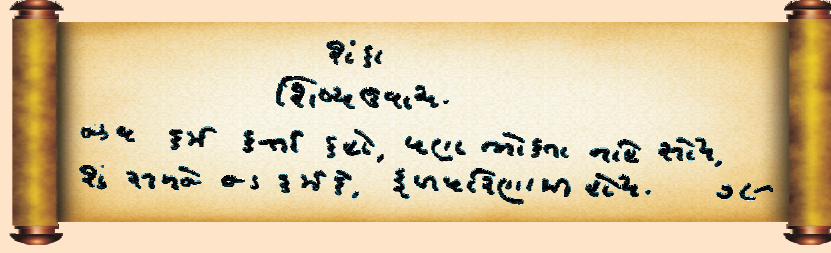
चेतन जो निज भानमां, कर्ता आप स्वभाव;  
वर्ते नहिं निज भानमां, कर्ता कर्म प्रभाव ॥७८ ॥

चेतन जो निज-भान में, कर्ता आप स्वभाव ।  
रहे नहिं निजभान में, कर्ता कर्म-प्रभाव ॥७८ ॥

अन्वयार्थ—( जो ) यदि ( चेतन ) जीव ( निज ) अपने ( भानमां ) भान में रहे तो ( आप ) अपने ( स्वभाव ) शुद्ध स्वभाव का ( कर्ता ) कर्ता होता है और यदि ( निज ) अपने ( भानमां ) शुद्ध स्वभाव में ( वर्ते नहिं ) न वर्ते तो ( कर्ता कर्म प्रभाव ) विशेष प्रकार से भावकर्म का कर्ता होता है अथवा जड़कर्म का निमित्त हुआ कहलाता है ॥७८ ॥

सरलार्थ—यदि जीव अपने भान में रहे तो वह अपने शुद्ध स्वभाव का कर्ता होता है और यदि अपने शुद्ध स्वभाव में न वर्ते तो विशेष प्रकार से भावकर्म का कर्ता होता है अथवा जड़कर्म का निमित्त कहा जाता है ।

## शंका - ४ ( शिष्य उवाच )



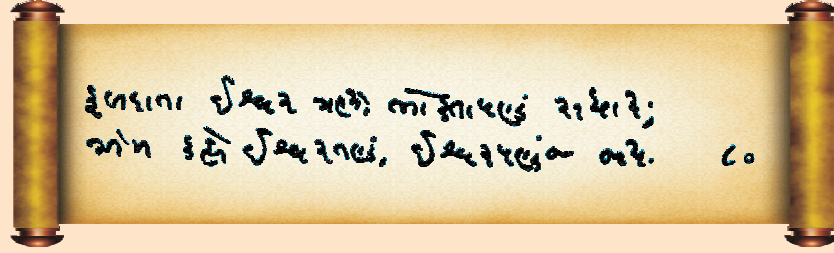
जीव कर्म कर्ता कहो, पण भोक्ता नहिं सोय;  
शुं समजे जड कर्म के, फल परिणामी होय ? ॥७९ ॥

जीव कर्म-कर्ता कहो, पर भोक्ता नहिं सोय ।  
क्या समझे जड़कर्म जो, फलदाता वह होय ? ॥७९ ॥

अन्वयार्थ—( जीव ) जीव को ( कर्म कर्ता ) कर्म का कर्ता ( कहो ) कहो तो भले, ( पण ) परन्तु वह ( भोक्ता ) भोगनेवाला ( नहिं सोय ) होता नहीं । ( जड कर्म ) जड़ कर्म को ( शुं समजे ) क्या खबर पड़े ( कि ) कि वह ( फल ) फल ( परिणामी ) देनेवाला ( होय ) होगा ? ॥७९ ॥

सरलार्थ—जीव को कर्म का कर्ता कहो तो भले कहो, परन्तु वह भोगनेवाला नहीं होता; जड़कर्म को क्या पता पड़ता है कि वह फल प्रदाता होगा ?

## शिष्य की आशंका...



फळदाता ईश्वर गण्ये, भोक्तापणुं सधाय;  
अम कह्ये ईश्वरतणुं, ईश्वरपणुं ज जाय ॥८०॥

फलदाता ईश्वर गिनें, भोक्तापना सधाय।  
ऐसा ईश्वर मानें तो, ईश्वरपना ही जाय ॥८०॥

अन्वयार्थ—( फळदाता ) फल देनेवाला ( ईश्वर ) ईश्वर को ( गण्ये ) गिने तो  
( भोक्तापणुं ) भोक्तापन ( सधाय ) साबित हो, परन्तु ( अम ) ऐसा ( कह्ये ) कहने से तो  
( ईश्वरतणुं ) ईश्वर का ( ईश्वरपणुं ) ईश्वरता ( ज ) ही ( जाय ) जाती है ॥८०॥

सरलार्थ—यदि ईश्वर को फल प्रदाता माना जाये तो भोक्तापना सिद्ध होता है,  
परन्तु ऐसा कहने से तो ईश्वर का ईश्वरपना ही जाता है ।



## शिष्य की आशंका...

ईश्वर सिद्ध थया विना, जगत नियम नहिं होय;  
पछी शुभाशुभ कर्मनां, भोग्यस्थान नहिं कोय. ८१

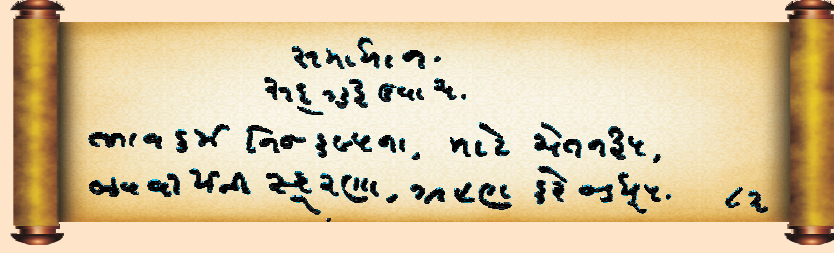
ईश्वर सिद्ध थया विना, जगत नियम नहिं होय;  
पछी शुभाशुभ कर्मनां, भोग्यस्थान नहिं कोय ॥८१॥

ईश्वर सिद्ध हुए बिना, जगत नियम नहिं होय।  
अतः शुभाशुभ कर्म का, भोग्य स्थान नहिं कोय ॥८१॥

अन्वयार्थ—( ईश्वर ) ईश्वर ( सिद्ध ) साबित ( थया विना ) न हो तो ( जगत ) जगत का ( नियम ) नियम ( होय ) कुछ ( नहिं ) रहता नहीं और ( पछी ) पश्चात् ( शुभाशुभ ) पुण्य-पापरूप ( कर्मनां ) कर्म को ( भोग्यस्थान ) भोगने के स्थान ( कोय ) कोई ( नहीं ) सिद्ध नहीं होते ॥८१॥

सरलार्थ—यदि ईश्वर सिद्ध न हो तो जगत का कुछ नियम रहता नहीं और फिर पुण्य-पापरूप कर्म को भोगने के स्थान कुछ सिद्ध नहीं होते।

## शंका : ४ का समाधान ( सद्गुरु उवाच )



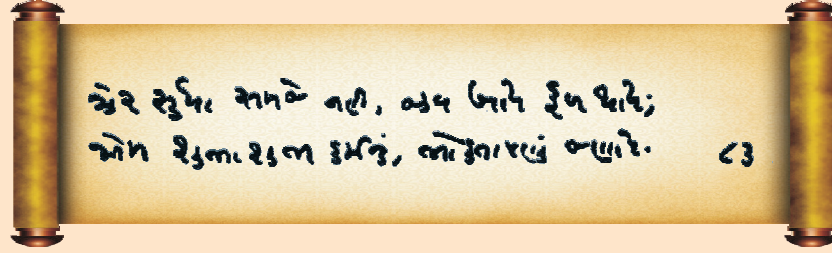
भावकर्म निज कल्पना, माटे चेतनरूप;  
जीव वीर्यनी स्फुरना, ग्रहण करे जडधूप ॥८२॥

भावकर्म निज-कल्पना, तातैं चेतन-रूप।  
जीव-वीर्य जब स्फुरित हो, ग्रहण करे जड़-धूप ॥८२॥

**अन्वयार्थ**—( भावकर्म ) भावकर्म / विकारीभाव ( निज ) अपनी ( कल्पना ) भ्रान्ति से होते हैं, ( माटे ) इसलिए वह ( चेतनरूप ) चेतनरूप है, ( जीव वीर्यनी ) जीव के वीर्य का ( स्फुरना ) उस ओर झुकाव होने से ( जडधूप ) जड़कर्म ( ग्रहण करे ) जीव और कर्म एक क्षेत्र में इकट्ठे होते हैं अर्थात् एकक्षेत्रावगारूप होते हैं ॥८२॥

**सरलार्थ**—भावकर्म अर्थात् विकारीभाव अपनी भ्रान्ति से होते हैं, इसलिए वे चेतनरूप हैं, जीव के वीर्य का उस ओर झुकाव होने से जड़कर्म ग्रहण करता है अर्थात् जीव और कर्म एकक्षेत्र में एकत्रित होते हैं अर्थात् एकक्षेत्र अवगारूप होते हैं ।

## दृष्टान्तपूर्वक भोक्तापने का निरूपण



जेर सुधा समझे नहीं, जीव खाय फळ थाय;  
अेम शुभाशुभ कर्मनुं, भोक्तापणुं जणाय ॥८३॥

जहर-सुधा समझे नहीं, जीव खाय फल पाय ।  
योंहि शुभाशुभ कर्म का, भोक्तापना जनाय ॥८३॥

अन्वयार्थ—( जेर ) जहर और ( सुधा ) अमृत को ( समझे ) खबर ( नहीं ) नहीं तो भी ( जीव ) जीव को ( खाय ) उनका सम्बन्ध होने से ( फळ ) जीव के परिणाम में वह निमित्त ( थाय ) होता है, ( अेम ) इसी प्रकार ( शुभाशुभ ) पुण्य-पापरूप ( कर्मनुं ) कर्म का जीव को ( भोक्तापणुं ) भोक्तापन ( जणाय ) ज्ञात होता है ॥८३॥

सरलार्थ—यद्यपि जहर और अमृत को खबर नहीं, तथापि जीव को उनका सम्बन्ध होने पर जीव के परिणाम में वे निमित्त होते हैं, उसी प्रकार पुण्य-पापरूप कर्म का जीव को भोक्तापना ज्ञात होता है ।

## शुभाशुभ के फल का दृष्टान्त

अरे रांके अरे नृप, ओ भाग्ये लो;  
कारण बिना न कार्य ते, ते ज शुभाशुभ वेद्ये ॥८४॥

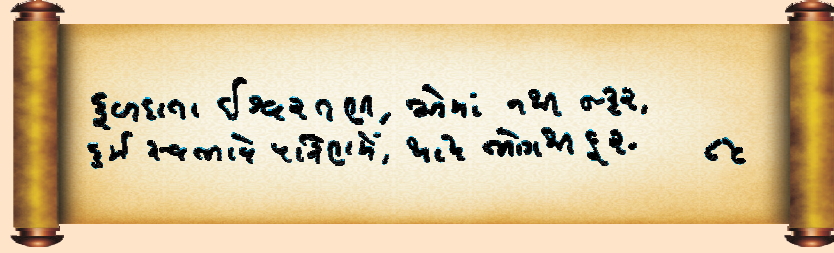
एक रांक ने एक नृप, ए आदि जे भेद;  
कारण विना न कार्य ते, ते ज शुभाशुभ वेद्ये ॥८४॥

एक रांक अरु एक नृप, इत्यादिक जो भेद।  
कारण बिना न कार्य हो, यही शुभाशुभ वेद्ये ॥८४॥

अन्वयार्थ—( एक ) एक ( रांक ) गरीब ( ने ) और ( एक ) एक ( नृप ) राजा  
( अ ) यह ( आदि ) इत्यादि ( जे ) जो ( भेद ) बाहर के भेद हैं, ( ते ) वे ( कारण ) कारण  
( विना ) बिना ( कार्य ) भेदरूप कार्य ( न ) नहीं हो सकता; ( अ ) वह ( ज ) ही  
( शुभाशुभ ) पुण्य और पाप का ( वेद्ये ) फल है, ऐसा है जानना ॥८४॥

सरलार्थ—एक गरीब और एक राजा है, यह इत्यादि जो बाहर के भेद हैं, वे  
कारण बिना भेदरूप नहीं हो सकते, वही पुण्य और पाप का फल है, ऐसा जानना चाहिए।

## कर्मफल में ईश्वर की आवश्यकता नहीं



फळदाता ईश्वरतणी, अेमां नथी जरूर;  
कर्म स्वभावे परिणमे, थाय भोगथी दूर ॥८५॥

फलदाता ईश्वर बने, इसमें नहीं जरूर।  
कर्म स्वयं से परिणमे, होंय भोग से दूर ॥८५॥

अन्वयार्थ—( फळदाता ) फल देने के लिये ( ईश्वरतणी ) ईश्वर की ( अेमां ) इसमें कोई ( जरूर ) आवश्यकता ( नथी ) नहीं है, ( कर्म ) शुभ और अशुभकर्म ( स्वभावे ) अपने स्वभाव से ( परिणमे ) परिणमते हैं और ( भोगथी ) बाहर के संयोग, विकार इत्यादि का निमित्त होकर ( दूर ) दूर ( थाय ) हो जाते हैं ॥८५॥

सरलार्थ—फल प्रदान करने के लिये ईश्वर की इसमें कोई आवश्यकता नहीं है, शुभ और अशुभकर्म अपने स्वभाव से परिणमते हैं और बाहर के संयोग, विकार इत्यादि का निमित्त होकर दूर हो जाते हैं ।



## गहन बात : संक्षिप्त में कथन

ते ते भोग्य विशेषणा, स्थानक द्रव्य स्वभाव,  
गहन बात छे शिष्य आ, कही संक्षेपे साव ॥८६॥

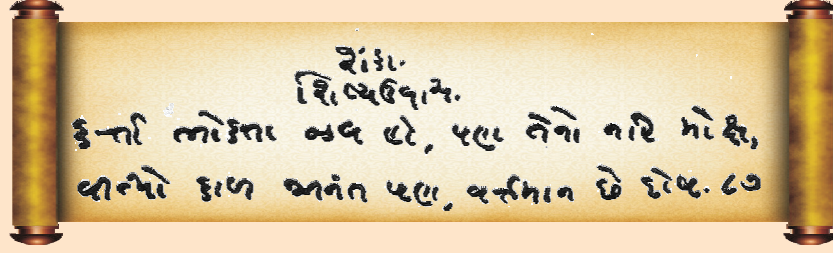
ते तो भोग्य विशेषणां, स्थानक द्रव्य स्वभाव;  
गहन बात छे शिष्य आ, कही संक्षेपे साव ॥८६॥

उन-उन भोग्य-विशेष के, स्थानक द्रव्य-स्वभाव ।  
गहन बात है शिष्य यह, कही संक्षेप बताय ॥८६॥

अन्वयार्थ—( ते ते ) उन-उन ( भोग्य ) भोगनेयोग्य ( विशेषणां ) भिन्न-भिन्न प्रकार के ( स्थानक ) स्थान / निमित्त होने का ( द्रव्य स्वभाव ) जड़ और चेतन पदार्थों का अपना-अपना भाव है । ( शिष्य ) हे शिष्य ! ( आ बात ) यह बात ( गहन ) बहुत गहरी ( छे ) है, तो भी ( साव ) अत्यन्त ( संक्षेपे ) संक्षिप्त में ( कहि ) यहाँ कही है ॥८६॥

सरलार्थ—उन-उन भोगनेयोग्य पृथक्-पृथक् प्रकार के स्थान होने का जड़ और चेतन पदार्थों का अपना-अपना भाव है । हे शिष्य ! यद्यपि यह बात बहुत गहरी है, तथापि यहाँ अत्यन्त संक्षिप्त में कही है ।

## शंका—5 ( शिष्य उवाच )



कर्ता भोक्ता जीव हो, पण तेनो नहिं मोक्ष;  
वीत्यो काल अनंत पण, वर्तमान छे दोष ॥८७॥

कर्ता-भोक्ता जीव हो, पर उसका नहिं मोक्ष ।  
बीता काल अनन्त पर, विद्यमान है दोष ॥८७॥

अन्वयार्थ—( जीव ) जीव ( कर्ता ) कर्ता और ( भोक्ता ) भोक्ता ( हो ) है, यह ठीक, ( पण ) परन्तु ( तेनो ) उसका ( मोक्ष ) मोक्ष ( नहिं ) हो, ऐसा लगता नहीं, क्योंकि ( अनन्त ) पाररहित ( काळ ) समय ( वीत्यो ) व्यतीत हुआ, ( पण ) तथापि ( दोष ) उसमें विकार ( वर्तमान ) अभी भी ( छे ) चालू है ॥८७॥

सरलार्थ—जीव कर्ता और भोक्ता है, यह सही, परन्तु उसका मोक्ष होता है, ऐसा नहीं लगता, क्योंकि पाररहित अपार काल व्यतीत हुआ, तथापि उसमें विकार अभी चालू है ।

## शिष्य की शंका...

शुभ करे फल भोगवे, देवादि गति मांय,  
अशुभ करे नरकादि फल, कर्म रहित न क्यांय ८८

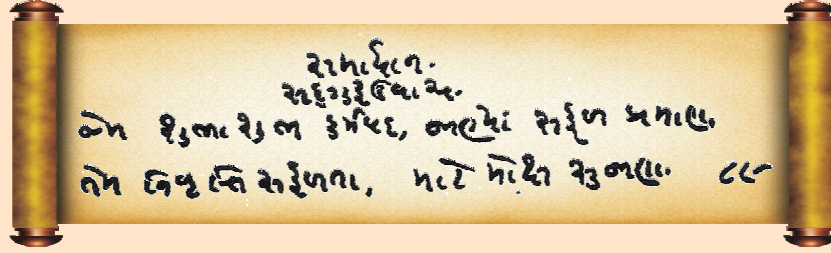
शुभ करे फल भोगवे, देवादि गति मांय;  
अशुभ करे नरकादि फल, कर्म रहित न क्यांय ॥८८ ॥

शुभ करता फल भोगता, देवादि गति माहिं।  
अशुभ करे नरकादि फल, कर्म रहित न होहिं ॥८८ ॥

अन्वयार्थ—( शुभ ) पुण्य ( करे ) करे तो ( देवादि ) देव इत्यादि ( गति मांय ) गतियों में ( फल ) फल ( भोगवे ) भोगता है और ( अशुभ ) पाप ( करे ) करे तो ( नरकादि ) नरक इत्यादि गतियों में ( फल ) फल भोगता है परन्तु ( कर्म रहित ) कर्मरहित ( क्यांय ) किसी भी काल में और स्थल में ( न ) होता नहीं ॥८८ ॥

सरलार्थ—यदि पुण्य करे तो देव इत्यादि गतियों में फल भोगता है और पाप करे तो नरक इत्यादि गतियों में फल भोगता है परन्तु कर्मरहित किसी भी काल में और स्थल में नहीं होता ।

## समाधान - 5 का समाधान ( सद्गुरु उवाच )



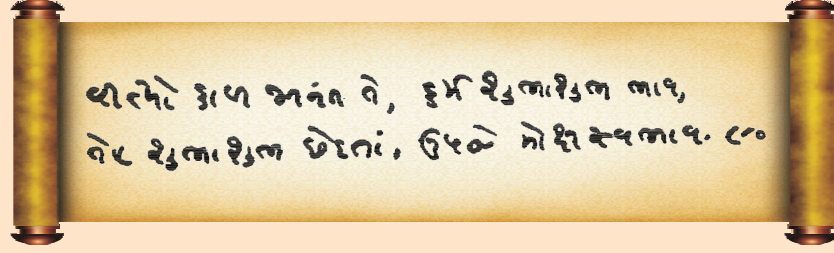
जेम शुभाशुभ कर्मपद, जाण्यां सफळं प्रमाण;  
तेम निवृत्ति सफळता, माटे मोक्ष सुजाण ॥८९॥

यथा शुभाशुभ कर्मपद, जाने सफल प्रमाण ।  
तथा निवृत्ति सफल है, तातें मोक्ष सुजान ॥८९॥

अन्वयार्थ—( जेम ) जिस प्रकार ( शुभाशुभ ) शुभ और अशुभ ( कर्मपद ) कर्म पद ( सफळ ) संसार का फल देनेवाले हैं, ऐसा ( प्रमाण ) सच्चा ज्ञान ( जाण्यां ) तूने जाना, ( तेम ) उसी प्रकार ( निवृत्ति ) पुण्य-पाप से विमुख होने पर ( मोक्ष ) मोक्षरूपी ( सफळता ) सच्चे फल की प्राप्ति होती है, ( माटे ) इस प्रकार ( सुजाण ) तू भलीभाँति जान ॥८९॥

सरलार्थ—जिस प्रकार शुभ और अशुभ कर्मपद संसार के फल प्रदाता हैं, ऐसा सच्चा ज्ञान तूने जाना है; उसी प्रकार पुण्य-पाप से परान्मुख होने पर मोक्षरूपी सच्चे फल की प्राप्ति होती है; इस प्रकार तू भलीभाँति जान ।

## शुभाशुभ का नाश ही मोक्षस्वभाव



वीत्यो काल अनन्त ते, कर्म शुभाशुभ भाव;  
तेह शुभाशुभ छेदतां, उपजे मोक्ष स्वभाव ॥१०॥

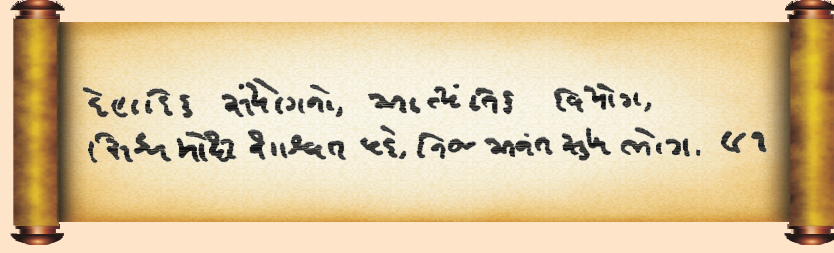
बीता काल अनन्त वह, कर्म शुभाशुभ भाव ।  
इन्हीं शुभाशुभ नाश से, उपजे मोक्ष स्वभाव ॥१०॥

अन्वयार्थ—( शुभाशुभ ) पुण्य-पापरूपी ( कर्म-भाव ) भावकर्म करते हुए ( ते ) वह ( अनन्त ) अनन्त ( काल ) काल ( वीत्यो ) व्यतीत हो गया है, ( तेह ) उन ( शुभाशुभ ) पुण्य-पापभाव से धर्म होगा, ( छेदतां ) ऐसी मान्यता टालने से ( मोक्ष स्वभाव ) पवित्रता का स्वभाव ( उपजे ) प्रगट होता है ॥१०॥

सरलार्थ—पुण्य-पापरूपी भावकर्म करते हुए, वह अनन्त काल व्यतीत हो गया है, उन पुण्य-पापभाव से धर्म होगा, ऐसी मान्यता मिटाने से पवित्रता का स्वभाव प्रगट होता है ।



## देहादिक का अत्यन्त वियोग ही सिद्धदशा



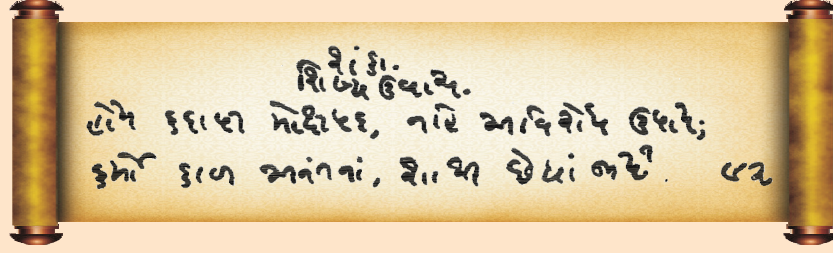
देहादिक संयोगानो, आत्यन्तिक वियोग;  
सिद्ध मोक्ष शाश्वत पदे, निज अनन्त सुखभोग ॥९१ ॥

देहादिक संयोग का, आत्यन्तिक वियोग।  
सिद्ध मोक्ष शाश्वत पदस्थ, निज अनन्त सुख-भोग ॥९१ ॥

अन्वयार्थ—इस प्रकार ( सिद्ध ) सिद्धस्वरूप ( मोक्ष ) मुक्ति जो कि ( शाश्वत् ) शाश्वत् / कायम टिकनेवाली ( पदे ) अपनी अवस्था है, उसे जीव प्रगट करता है और ( निज ) अपना ( अनन्त ) सम्पूर्ण ( सुख ) सुख ( भोग ) भोगता है। वहाँ ( देहादिक ) देह इत्यादि ( संयोगानो ) संयोग ( आत्यन्तिक ) सम्पूर्णतः ( वियोग ) छूट जाते हैं ॥९१ ॥

सरलार्थ—इस प्रकार सिद्धस्वरूप मुक्ति जो कि शाश्वत् अर्थात् सादि-अनन्त काल टिकनेवाली अपनी अवस्था है, उसे जीव प्रगट करता है और अपना सम्पूर्ण सुख भोगता है। वहाँ देह इत्यादि संयोग पूर्णतः छूट जाते हैं।

## शंका - ६ ( शिष्य उवाच )



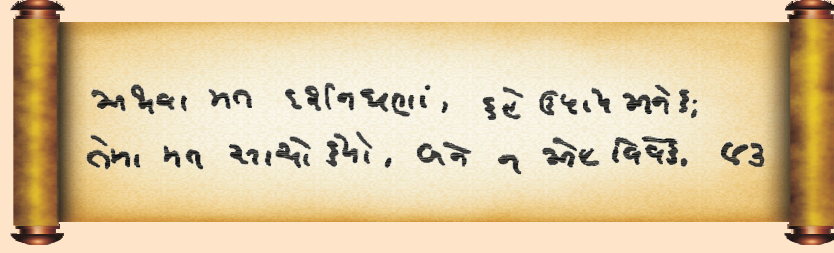
होय कदापि मोक्षपद, नहिं अविरोध उपाय;  
कर्मो काल अनन्तनां, शशी छेद्यां जाय? ॥९२॥

होय कदाचित् मोक्ष पद, नहिं अविरोध उपाय ।  
कर्म काल अनन्त के, कैसे छेदें जाय? ॥९२॥

अन्वयार्थ—( कदापि ) कभी ( मोक्षपद ) मोक्ष अवस्था ( होय ) होती हो तो भी ( अविरोध ) उसका कोई विरोधरहित ( उपाय ) उपाय ( नहिं ) ज्ञात नहीं होता, और ( कर्मो ) कर्म ( अनन्तना ) अनन्त ( काल ) काल से है, वे ( साशी ) किस प्रकार ( छेद्यां ) टाले ( जाय ) जा सकते हैं ? ॥९२॥

सरलार्थ—कदाचित् मोक्ष अवस्था होती हो, तथापि उसका अविरोध अर्थात् विरोधरहित उपाय ज्ञात नहीं होता, और कर्म अनन्त काल से हैं, वे किस प्रकार टाले जा सकते हैं ?

## शिष्य की आशंका... कौन उपाय सत्य ?



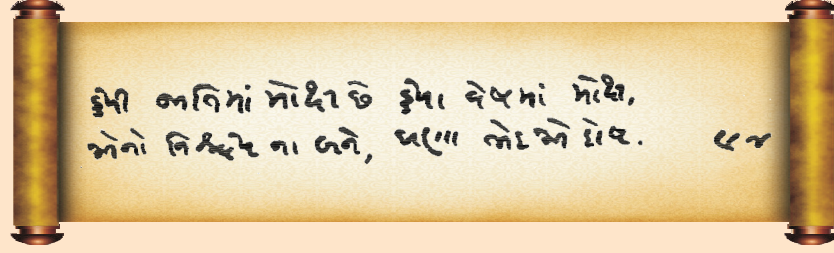
अथवा मत दर्शन घणां, कहे उपाय अनेक;  
तेमां मत साचो कयो, बने न अेह विवेक ॥९३॥

अथवा मत दर्शन बहुत, कहे उपाय अनेक ।  
उनमें सच्चा कौन है ?, सूझत नहीं विवेक ॥९३॥

अन्वयार्थ—( अथवा ) अथवा जगत में ( मत ) अभिप्राय और ( दर्शन ) धार्मिक मान्यतायें ( घणां ) अनेक प्रकार के हैं और वे ( अनेक ) अलग-अलग प्रकार के ( उपाय ) साधन ( कहे ) कहते हैं । ( तेमां ) उसमें ( कयो ) कौन ( साचो ) सच्चा ( मत ) अभिप्राय है, ( अेह ) उसका ( विवेक ) निर्णय ( बने न ) मैं नहीं कर सकता ॥९३॥

सरलार्थ—अथवा जगत में अभिप्राय और धार्मिक मान्यतायें अनेक प्रकार की हैं और वे विविध-विविध प्रकार के साधन कहते हैं, उनमें कौन अभिप्राय सच्चा है, इसका मैं निर्णय नहीं कर सकता ।

## शिष्य की आशंका... किस जाति और वेष में मोक्ष



कई जातिमां मोक्ष छे, कया वेषमां मोक्ष;  
ऐनो निश्चय ना बने, घणां भेद ए दोष ॥१४॥

किस जाति में मोक्ष है, कौन वेष में मोक्ष ?।

इसका निश्चय ना बने, बहुत भेद यह दोष ॥१४॥

अन्वयार्थ—( कई ) किस ( जातिमां ) जाति में ( मोक्ष ) मोक्ष ( छे ) होता है और ( कया ) किस ( वेषमां ) वेष में ( मोक्ष ) मोक्ष होता है, ( ऐनो ) इसका ( निश्चय ) निर्णय ( ना बने ) मुझसे नहीं हो सकता क्योंकि उसमें ( घणां ) बहुत ( भेद ) भेद हैं ( ए ) यह ( दोष ) कठिनता है ॥१४॥

सरलार्थ—किस जाति में मोक्ष होता है और किस वेष में मोक्ष होता है, इसका निर्णय मुझसे नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें बहुत भेद हैं, यह कठिनता है।

## शिष्य की आशंका : उपसंहार

तेथी अेम जणाय छे, मळे न मोक्ष उपाय;  
जीवादि जाण्या तणो, शो उपकार ज थाय? ॥९५॥

तेथी एम जणाय छे, मळे न मोक्ष उपाय;  
जीवादि जाण्या तणो, शो उपकार ज थाय? ॥९५॥

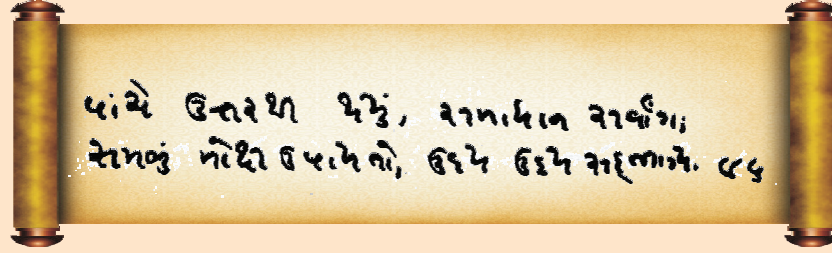
तातैं यह है भासता, मिले न मोक्ष उपाय।  
जीवादि के ज्ञान से, क्या मदद हो जाय? ॥९५॥

अन्वयार्थ—( तेथी ) इसलिए मुझे ( अेम ) ऐसा ( जणाय छे ) लगता है कि ( मोक्ष-उपाय ) मोक्ष का उपाय ( मळे ) प्राप्त हो, ऐसा ( न ) नहीं है और इसलिए ( जीवादि ) जीव इत्यादि ( जाण्या तणो ) मैंने जाना उसका ( शो ) क्या ( उपकार ) लाभ ( ज ) वास्तव में ( थाय ) होगा ? ॥९५॥

सरलार्थ—इसलिए मुझे ऐसा लगता है कि मोक्ष का उपाय प्राप्त हो, ऐसा नहीं है और इसलिए मैंने जीव इत्यादि जाने हैं, उसका वास्तव में क्या लाभ होगा ?



## शिष्य का निवेदन



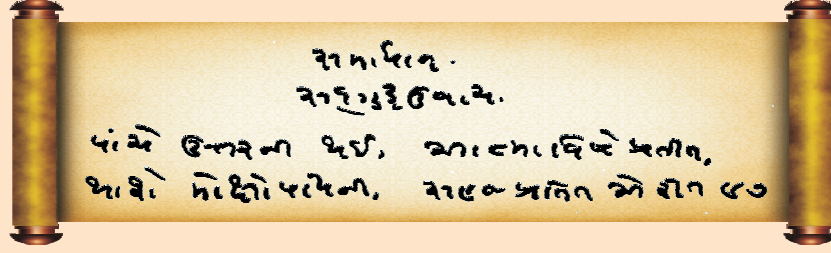
पांचे उत्तरथी थयुं, समाधान सर्वांग;  
समजुं मोक्षउपाय तो, उदय उदय सद्भाग्य ॥९६॥

पाँचों उत्तर से हुआ, समाधान सर्वांग।  
समझूँ मोक्ष-उपाय तो, उदय-उदय सद्भाग्य ॥९६॥

अन्वयार्थ—( पांचे ) पाँचों ( उत्तरथी ) उत्तरों से ( समाधान ) समाधान ( सर्वांग ) पूरा-पूरा ( थयुं ) हुआ परन्तु यदि ( मोक्ष उपाय ) मोक्ष का मार्ग ( समजुं ) मैं समझूँ ( तो ) तो ( सद् ) शाश्वत् ( भाग्य ) शुद्ध अवस्था ( उदय-उदय ) अवश्य प्रगट हो ॥९६॥

सरलार्थ—आपके पाँचों उत्तरों से मुझे पूर्णतः समाधान हुआ, परन्तु यदि मैं मोक्ष का मार्ग समझूँ तो शाश्वत् शुद्ध अवस्था अवश्य प्रगट हो।

## शंका-६ का समाधान ( सद्गुरु उवाच )



पाँचे उत्तरनी थयी, आत्मा विषे प्रतीत;  
थाशे मोक्षोपायनी, सहज प्रतीत ए रीत ॥१७॥

पाँचों उत्तर की हुई, आत्मा माहिं प्रतीति।  
होगी मोक्ष-उपाय की, सहज प्रतीति इस रीति ॥१७॥

अन्वयार्थ—( पाँचे ) पाँचों ( उत्तरनि ) समाधान की ( आत्मा ) तेरे आत्मा ( विषे ) में जैसे ( प्रतीत ) श्रद्धा ( थयी ) हुई, ( ए रीत ) उसी प्रकार ( मोक्षोपायनी ) मोक्षमार्ग की ( प्रतीत ) श्रद्धा ( सहज ) तेरे स्वयं से ही सहजता से ( थाशे ) होगी ॥१७॥

सरलार्थ—पूर्व कथित पाँचों शंकाओं के समाधान से तेरे आत्मा में जैसे श्रद्धा हुई, उसी प्रकार मोक्षमार्ग की श्रद्धा तुझमें स्वयं से ही सरलता से होगी ।

## मोक्ष का उपाय

इति-मात्रे अज्ञान छे, मोक्षभाव निजवास,  
अंधकार अज्ञान सम, नाशे ज्ञान प्रकाश ॥९८॥

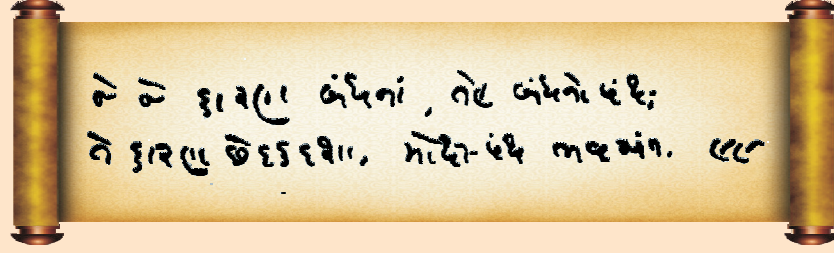
कर्मभाव अज्ञान छे, मोक्षभाव निजवास;  
अंधकार अज्ञान सम, नाशे ज्ञान प्रकाश ॥९८॥

कर्मभाव अज्ञान है, मोक्षभाव निज-वास।  
अन्धकार अज्ञान-सम, नाशे ज्ञान-प्रकाश ॥९८॥

अन्वयार्थ—( कर्मभाव ) पर का मैं कर सकता हूँ, ऐसा भाव वह ( अज्ञान ) अज्ञान ( छे ) है और ( निजवास ) अपने स्वरूप में रहना, वह ( मोक्षभाव ) मोक्ष भाव है ( अज्ञान ) अज्ञान ( अन्धकार सम ) अन्धकार के समान है, वह ( ज्ञान प्रकाश ) सच्चे ज्ञान के प्रकाश से ( नाशे ) मिट जाता है ॥९८॥

सरलार्थ—मैं पर का कर सकता हूँ, ऐसा भाव अज्ञान है और अपने स्वरूप में रहना, वह मोक्षभाव है। अज्ञान अन्धकार के समान है, उसका सच्चे ज्ञान के प्रकाश से अभाव हो जाता है।

## किस भाव से बन्ध और किससे मोक्ष



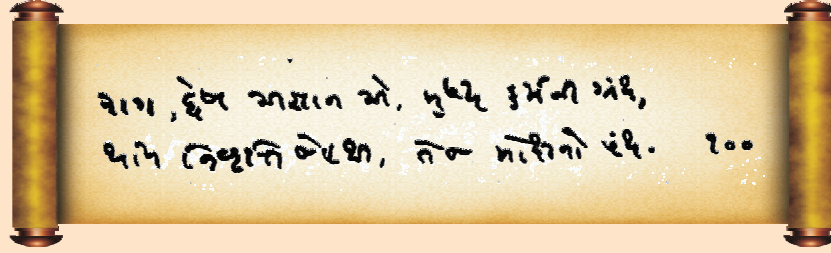
जे जे कारण बंधनां, तेह बंधनो पंथ;  
ते कारण छेदक दशा, मोक्ष-पंथ भवअंत ॥९९॥

जो-जो कारण बन्ध के, वही बन्ध के पन्थ।  
उन कारण-छेदक दशा, मोक्ष-पन्थ भव-अन्त ॥९९॥

अन्वयार्थ—( जे जे ) जो-जो ( कारण ) कारण ( बंधनां ) बन्ध के हैं अर्थात् कि शुभाशुभभाव, ( तेह ) वे ( बंधनो ) संसार का ( पंथ ) मार्ग है और ( ते कारण ) वैसे भावों को ( छेदक ) छेदनेवाली ( दशा ) दशा, वह ( मोक्ष पंथ ) मोक्ष का मार्ग है और ( भवअंत ) वह भव का नाश करती है ॥९९॥

सरलार्थ—जो-जो बन्ध के कारण हैं अर्थात् शुभाशुभभाव, वह संसार भ्रमण का मार्ग है और उन भावों को छेदनेवाली दशा, वह मोक्ष का मार्ग है और वह भव का नाश करती है ।

## इसी बात का विशेष स्पष्टीकरण



राग, द्वेष, अज्ञान ए, मुख्य कर्मनी ग्रंथ;  
थाय निवृत्त जेहथी, ते ज मोक्षनो पंथ ॥१००॥

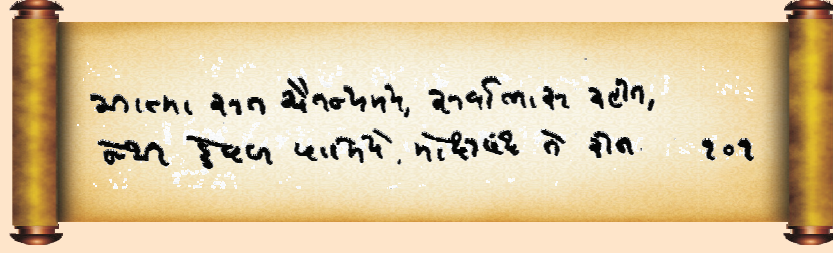
राग-द्वेष-अज्ञान ये, मुख्य कर्म के ग्रन्थ।  
जिससे इनकी निवृत्ति हो, वही मोक्ष का पंथ ॥१००॥

अन्वयार्थ—( अज्ञान ए ) मैं पर का कर सकता हूँ, ऐसी भ्रमणारूप मिथ्याज्ञान, ( राग ) परवस्तु से लाभ होता है, ऐसी मान्यतापूर्वक की प्रीति ( द्वेष ) परवस्तु से नुकसान होता है, ऐसी मान्यतापूर्वक की अप्रीति—यह ( कर्मनि ) भावकर्म की ( मुख्य ) मूल ( ग्रन्थ ) गाँठ है ( जेहथि ) जिसके द्वारा उससे ( निवृत्ति ) विमुख होना ( थाय ) हो ( ते ज ) वही ( मोक्षनो ) पवित्रता का ( पंथ ) मार्ग है ॥१००॥

सरलार्थ—परवस्तुओं से मुझे लाभ होता है—ऐसी मान्यतापूर्वक की प्रीति; परवस्तुओं से मुझे नुकसान होता है—ऐसी मान्यतापूर्वक की अप्रीति; मैं पर का कर सकता हूँ—ऐसी भ्रमणारूप मिथ्याज्ञान, वह भावकर्म की मूल गाँठ है, जिसके द्वारा उनसे विमुख होना सम्भव हो, वही पवित्रता का—मुक्ति का मार्ग है।



## मुक्तिमार्ग का ध्येयभूत आत्मा कैसा है ?



आत्मा सत् चैतन्यमय, सर्वाभास रहित;  
जेथी केवळ पामिये, मोक्षपंथ ते रीत ॥१०१॥

आत्मा सत् चैतन्यमय, सर्वाभास रहित।  
जिससे केवल प्राप्त हो, मोक्ष-पंथ यह रीत ॥१०१॥

अन्वयार्थ—( आत्मा ) आत्मा ( सत् ) त्रिकाली ( चैतन्यमय ) चैतन्यस्वरूप ( सर्वाभास ) सब प्रकार के विकारी भाव और देह इत्यादि संयोग ( रहित ) रहित है ( जेथी ) इस त्रिकाली स्वरूप के लक्ष्य से ( केवळ ) शुद्ध आत्मा ( पामिये ) प्रगट होता है, ( मोक्षपंथ ) मोक्ष के उपाय की ( ते ) यही ( रीत ) पद्धति है ॥१०१॥

सरलार्थ—आत्मा त्रिकाली चैतन्यस्वरूप तथा समस्त प्रकार के विकारी भावों और शरीरादि संयोगों से रहित है। इस त्रिकाली स्वरूप के लक्ष्य से शुद्ध आत्मा प्रगट किया जा सकता है। मोक्ष के उपाय की यही पद्धति है।

## कर्मों में मुख्य मोहनीय है

ईश अनंत प्रकारनां, तेमां मुख्ये आठ,  
तेमां मुख्ये मोहनीय, हणाय ते कहुं पाठ ॥१०२॥

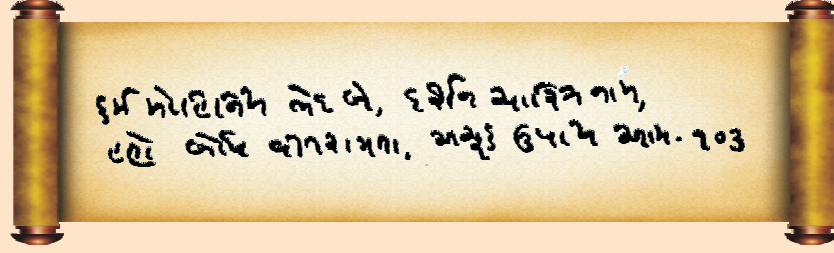
कर्म अनंत प्रकारनां, तेमां मुख्ये आठ;  
तेमां मुख्ये मोहनीय, हणाय ते कहुं पाठ ॥१०२॥

कर्म अनन्त प्रकार के, तामें मुख्य जु आठ।  
मोहनीय उनमें प्रमुख, तत्राशक कहुं पाठ ॥१०२॥

अन्वयार्थ—( कर्म ) जड़कर्म ( अनंत ) अनन्त ( प्रकारनां ) प्रकार के हैं, ( तेमां ) उनमें ( मुख्ये ) ज्ञानावरणादि मुख्य ( आठ ) आठ हैं, ( तेमां ) उन आठ में ( मुख्ये ) प्रमुख ( मोहनीय ) मोहनीय है, ( ते ) वह ( हणाय ) किस प्रकार टले, ( कहुं पाठ ) उसका पाठ कहता हूँ ॥१०२॥

सरलार्थ—जड़कर्म अनन्त प्रकार के हैं, उनमें ज्ञानावरणादि मुख्य आठ हैं; उन आठ में मुख्य मोह है, वह किस प्रकार अभावरूप हो, उसका पाठ कहता हूँ।

## मिथ्यादर्शन-चारित्र के अभाव का अचूक उपाय



कर्म मोहनीय भेद बे, दर्शन चारित्र नाम;  
हणे बोध वीतरागता, अचूक उपाय आम ॥१०३॥

मोहनीय के भेद दो, दर्शन-चारित्र नाम।  
घातें बोध-वीतरागता, अचूक उपाय जु आम ॥१०३॥

अन्वयार्थ—( मोहनीय ) इस मोहनीय ( कर्म ) कर्म के ( भेद बे ) दो भेद हैं ( नाम ) उनके नाम ( दर्शन ) दर्शनमोह अर्थात् मिथ्यात्व ( चारित्र ) और चारित्रमोह है। ( बोध ) सम्यक् बोध ( हणे ) मिथ्यादर्शन को टालता है और ( वीतरागता ) वीतरागता वह चारित्रमोह को टालती है। ( आम ) इस प्रकार ( उपाय ) रीति ( अचूक ) नियमरूप है, अर्थात् अफर है ॥१०३॥

सरलार्थ—इस मोहनीय कर्म के दो भेद हैं, उनके नाम दर्शनमोह अर्थात् मिथ्यात्व और चारित्रमोह अर्थात् राग-द्वेष है। सम्यक् बोध मिथ्यादर्शन का अभाव और वीतरागता चारित्रमोह का अभाव करते हैं। इस प्रकार नियमरूप है अर्थात् अफर है।

## दोष का अभाव प्रतिपक्षी गुणों से

इमं बन्धं क्रोधादिभिः, हृणो क्षमादिकं तेह,  
प्रत्यक्षं अनुभव सर्वने, अेमां सो संदेहः १०४

कर्मबन्ध क्रोधादिथी, हणे क्षमादिक तेह;  
प्रत्यक्ष अनुभव सर्वने, अेमां सो संदेह? ॥१०४॥

कर्म-बन्ध क्रोधादि से, क्षमाभाव से नाश।  
प्रत्यक्ष अनुभव सर्व को, नहिं संशय अवकाश ॥१०४॥

अन्वयार्थ—( क्रोधादिथी ) क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि के निमित्त से ( कर्मबन्ध ) कर्मबन्ध होता है, ( क्षमादिक ) क्षमा, समता इत्यादि ( तेह ) उन क्रोधादि को ( हणे ) मिटाते हैं, इसका ( प्रत्यक्ष ) प्रत्यक्ष ( अनुभव ) अनुभव ( सर्वने ) सबको है और ( अेमा ) इसमें ( सो संदेह ) किसी को सन्देह पड़े, ऐसा नहीं है ॥१०४॥

सरलार्थ—क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि के निमित्त से कर्मबन्ध होता है; क्षमा समता इत्यादि क्रोधादि का अभाव करते हैं, इसका प्रत्यक्ष अनुभव सभी को है और इसमें किसी को सन्देह है, ऐसा नहीं है।

## मोक्षमार्ग साधक को भव नहीं

छोडी मत दर्शन तणो, आग्रह तेम विकल्प,  
कह्यो मार्ग आ साधशे, जन्म तेहना अल्प १०५

छोडि मत दर्शन तणो, आग्रह तेम विकल्प;  
कह्यो मार्ग आ साधशे, जन्म तेहना अल्प ॥१०५॥

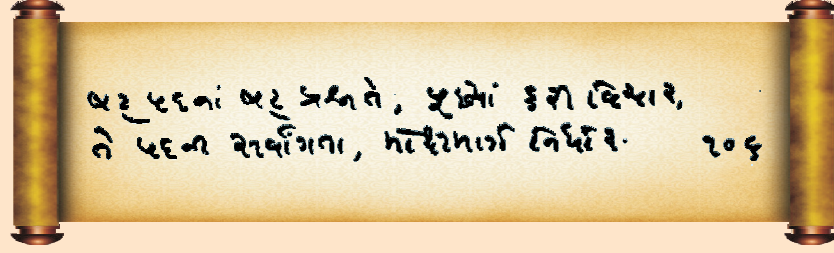
मत-दर्शन का छोड़कर, आग्रह और विकल्प ।  
कथित मार्ग साधन करे, जन्म उसी के अल्प ॥१०५॥

अन्वयार्थ—( मत दर्शन तणो ) अभिप्राय और मान्यता का ( आग्रह ) मिथ्या आग्रह ( तेम विकल्प ) तथा वैसा वर्तन ( छोडि ) छोड़कर ( आ ) यह ( कह्यो ) कहा हुआ ( मार्ग ) मार्ग जो ( साधशे ) साधेगा, वह ( अल्प ) थोड़े ( तेहना जन्म ) भव में मोक्ष प्राप्त करेगा अर्थात् उसे भवकटि हो गयी है ॥१०५॥

सरलार्थ—अभिप्राय और मान्यता की मिथ्या पकड़ तथा वैसा वर्तन छोड़कर ( ज्ञानियों द्वारा ) कथित इस मार्ग को जो साधेगा, वह अल्प भव में मोक्ष प्राप्त करेगा अर्थात् उसका भव का किनारा आ गया है ।



ज्ञानी, विचक्षण शिष्य से कहते हैं कि...



षट्पदनां षट्प्रश्न तेषु, पूछ्या करि विचार;  
ते पदनी सर्वांगता, मोक्षमार्ग निर्धार ॥१०६॥

षट्-पद के षट्-प्रश्न ये, जो पूछे हितकार।  
उन पद की सर्वांगता, मोक्षमार्ग निर्धार ॥१०६॥

अन्वयार्थ—( षट्पदनां ) छह पद के ( षट्प्रश्न ) छह प्रश्न ( तेषु ) तुमने  
( विचार ) विचार ( करि ) करके ( पूछ्या ) पूछे हैं। ( ते ) उन छह ( पदनी ) पद के  
( सर्वांगता ) समस्त पहलुओं का अनेकान्त ज्ञान, वह ( मोक्षमार्ग ) मोक्षमार्ग है,  
( निर्धार ) ऐसा निर्णय कर ॥१०६॥

सरलार्थ—तुमने छह पद के छह प्रश्न विचार करके पूछे हैं, उन छह पद के  
समस्त पहलुओं का अनेकान्तिक ज्ञान मोक्षमार्ग है, ऐसा निर्णय कर।

## कौन प्राप्त करता है मुक्ति

जाति, वेषनो भेद नहिं, कह्यो मार्ग जो होय,  
साधे ते मुक्ति लहे, अेमां भेद न कोय ॥१०७॥

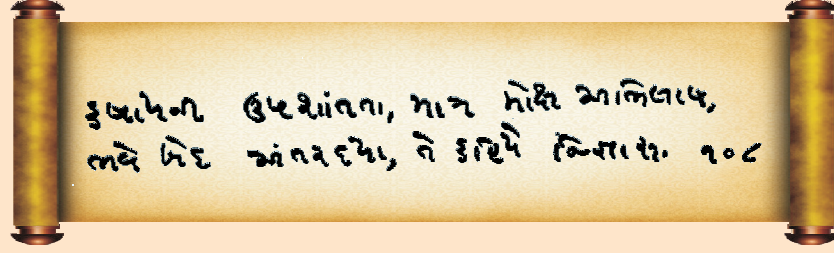
जाति, वेषनो भेद नहिं, कह्यो मार्ग जो होय;  
साधे ते मुक्ति लहे, अेमां भेद न कोय ॥१०७॥

जाति-वेष का भेद नहिं, कहा मार्ग यदि होय ।  
साधे वह मुक्ति लहे, इसमें भेद न कोय ॥१०७॥

अन्वयार्थ—( कह्यो मार्ग ) यह जो कहा, वह मार्ग ( जो होय ) यदि हो तो ( जाति वेषनो ) जाति और वेष का ( भेद ) वीतरागमार्ग में भेद ( नहिं ) नहीं है; ( साधे ) शुद्धभाव प्रगट करे ( ते मुक्ति ) वह जीव मुक्ति ( लहे ) प्राप्त करता है । ( अेमां ) इसमें ( कोय ) कुछ भी ( भेद ) अन्तर / भेद ( न ) नहीं है ॥१०७॥

सरलार्थ—यह जो मार्ग कहा है, वह हो तो जाति और वेष का वीतरागमार्ग में भेद नहीं है । जो शुद्धभाव प्रगट करे, वह जीव मुक्ति प्राप्त करता है, इसमें कुछ भी भेद / अन्तर नहीं है । तात्पर्य यह है कि मोक्षमार्गरूप निर्ग्रन्थ मुनिदशा में जाति-वेष का जो नियम जिस प्रकार से कहा है, वही होता है, उससे विरुद्ध नहीं होता ।

## मोक्षमार्ग के योग्य जिज्ञासु कौन ?



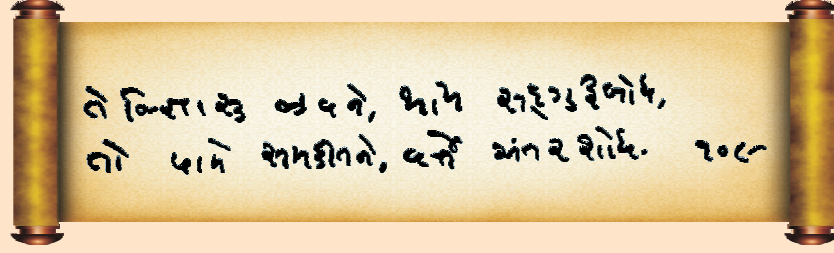
कषायनी उपशांतता, मात्र मोक्ष अभिलाष;  
भवे खेद, अंतर दया, ते कहीए जिज्ञासु ॥१०८ ॥

कषाय की उपशान्तता, मात्र मोक्ष अभिलाष।  
भव से खेद, अन्तर-दया, उसे कहें जिज्ञासु ॥१०८ ॥

अन्वयार्थ—( कषायनी ) कषाय ( उपशांतता ) शिथिल किये हैं और ( मात्र ) मात्र ( मोक्ष ) पवित्रता का ( अभिलाष ) जिसे झुकाव है, ( भवे खेद ) जिसे भव का खेद वर्तता है और ( अन्तर ) आत्मस्वरूप की ( दया ) दया है, ( ते ) वह जीव ( जिज्ञासु ) जिज्ञासु अर्थात् मोक्षमार्ग प्राप्त करनेयोग्य है—( कहिये ) ऐसा ज्ञानी कहते हैं ॥१०८ ॥

सरलार्थ—जिसने कषाय शिथिल किये हैं और मात्र पवित्रता का जिसे झुकाव है, जिसको भव का खेद वर्तता है और आत्मस्वरूप की दया है, वह जीव जिज्ञासु अर्थात् मोक्षमार्ग प्राप्त करने के योग्य है, ऐसा ज्ञानी कहते हैं ।

## ऐसा जिज्ञासु सद्गुरु योग से समकित पायेगा ही



ते जिज्ञासु जीवने, थाय सद्गुरुबोध;  
तो पामे समकितने, वर्ते अंतरशोध ॥१०९॥

उस जिज्ञासु जीव को, यदि हो सद्गुरु-बोध।  
तो पावे सम्यक्त्व को, वर्ते अन्तर-शोध ॥१०९॥

अन्वयार्थ—( ते ) ऐसे ( जिज्ञासु ) जिज्ञासु ( जीवने ) जीव को ( सद्गुरु )  
आत्मज्ञानी गुरु द्वारा ( बोध ) आत्मा का उपदेश ( थाय ) प्राप्त होता है, ( तो ) इस प्रकार  
जिज्ञासु जीव ( समकितने ) अपने सच्चे स्वरूप की पहिचान को ( पामे ) प्राप्त करता है  
और ( वर्ते अन्तरशोध ) अपने आत्मा की शुद्धि अन्तर में शोधता है ॥१०९॥

सरलार्थ—ऐसे जिज्ञासु जीव को आत्मज्ञानी गुरु द्वारा आत्मा का उपदेश प्राप्त  
होता है, इस प्रकार जिज्ञासु जीव अपने सच्चे स्वरूप की पहिचान प्राप्त करता है और अपने  
आत्मा की शुद्धि अन्तर में शोधता है।

## सच्चा समकित कौन प्राप्त कर सकता है ?

मत दर्शन आग्रह तजि, वर्ते सद्गुरुलक्ष,  
लहे शुद्ध समकित ते, जेमां भेद न पक्ष. ११०

मत दर्शन आग्रह तजि, वर्ते सद्गुरुलक्ष;  
लहे शुद्ध समकित ते, जेमां भेद न पक्ष ॥११०॥

मत-दर्शन-आग्रह तजे, वर्ते सद्गुरु-लक्ष।  
लहे शुद्ध सम्यक्त्व वह, जिसमें भेद न पक्ष ॥११०॥

अन्वयार्थ—( दर्शन ) मिथ्या मान्यता और ( मत ) ज्ञान की ( आग्रह ) पकड़ ( तजि ) छोड़कर ( सद्गुरु ) आत्मज्ञानी गुरु ( लक्ष ) के लक्ष्य से ( वर्ते ) उनका कहा हुआ तत्त्व समझे, ( ते ) वह जीव ( शुद्ध ) शुद्ध—निश्चय ( समकित ) समकित को ( लहे ) प्राप्त करता है, ( जेमां ) उसमें ( भेद न पक्ष ) कुछ भेद या पक्ष नहीं अर्थात् इस प्रकार जो करते हैं, उन सबको समकित ही होता है ॥११०॥

सरलार्थ—मिथ्या मान्यता और मिथ्या ज्ञान की पकड़ छोड़कर आत्मज्ञानी गुरु के लक्ष्य से उनके द्वारा कथित तत्त्व को जो समझता है, वह जीव शुद्ध अर्थात् निश्चय सम्यक्त्व हो प्राप्त करता है। इसमें कुछ भी भेद अथवा पक्ष नहीं है अर्थात् जो इस प्रकार करते हैं, उन सबको सम्यक्त्व होता ही है।



## क्या है परमार्थ से समकित

वर्ते निज स्वभावानुं, अनुभव लक्ष प्रतीत,  
वृत्ति बहे निजभावमां, परमार्थे समकित ॥१११॥

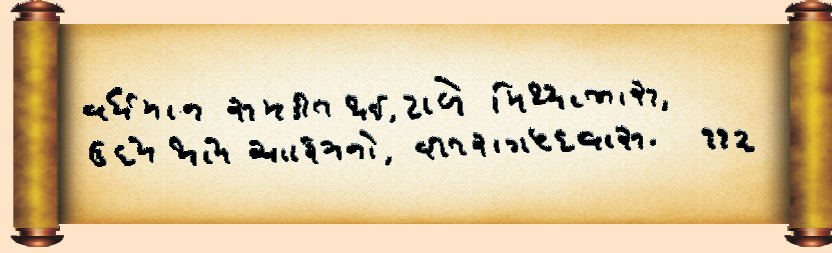
वर्ते निज स्वभावनुं, अनुभव लक्ष प्रतीत;  
वृत्ति बहे निजभावमां, परमार्थे समकित ॥१११॥

वर्ते निज-स्वभाव का, अनुभव लक्ष प्रतीत।  
वृत्ति बहे निज-भाव में, वह निश्चय समकित ॥१११॥

अन्वयार्थ—( निज स्वभावनुं ) अपने स्वभाव की ( प्रतीत ) सच्ची प्रतीति, ( लक्ष ) सच्चा ज्ञान, ( अनुभव ) स्थिरता, निर्विकल्पता ( वर्ते ) वर्तती है और ( निज भावमां ) अपने भाव में ( वृत्ति ) वर्तमान अवस्था ( बहे ) स्वरूप-सन्मुख झुकती है, वह ( परमार्थे ) वास्तविक—निश्चय ( समकित ) समकित है ॥१११॥

सरलार्थ—अपने आत्मस्वभाव की सच्ची प्रतीति, सच्चा ज्ञान, स्थिरता अर्थात् निर्विकल्पता वर्तती है और अपने भाव में वर्तमान अवस्था स्वरूप सन्मुख झुकती है, वह वास्तविक अर्थात् निश्चय समकित है।

## समकित की बढ़ती धारा से वीतरागता



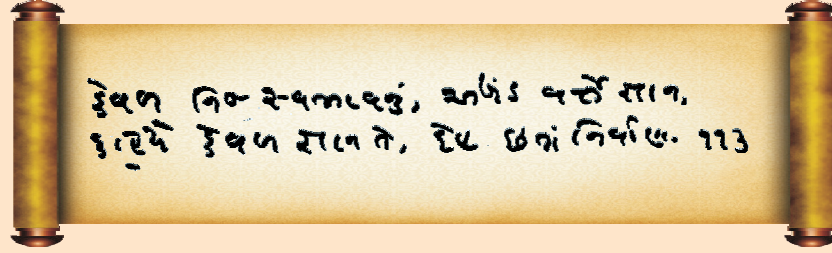
वर्धमान समकित थई, टाले मिथ्याभास;  
उदय थाय चारित्रनो, वीतरागपद वास ॥११२॥

वर्धमान सम्यक्त्व हो, टाले मिथ्याभास।  
उदय होय चारित्र का, वीतराग-पद वास ॥११२॥

अन्वयार्थ—( समकित ) वह समकित ( वर्धमान थई ) जैसे-जैसे बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे ( मिथ्याभास ) चारित्र के दोष को वह ( टाले ) टालता है; इसलिए ( चारित्रनो ) चारित्र का ( उदय थाय ) प्रगटना होता है और क्रम-क्रम से बढ़कर ( वीतरागपद ) वीतरागदशा को ( वास ) वह जीव प्राप्त करता है ॥११२॥

सरलार्थ—वह समकित जैसे-जैसे वृद्धिगत होता जाता है, वैसे-वैसे वह चारित्र के दोष को टालता है, इसलिए चारित्र का प्रगटपना होता है, और क्रम-क्रम से बढ़कर वीतरागदशा को वह जीव प्राप्त करता है।

## केवलज्ञान का अपरिमित रहस्य



केवल निजस्वभावनुं, अखण्ड वर्ते ज्ञान;  
कहिए केवलज्ञान ते, देह छतां निर्वाण ॥११३॥

केवल निज-स्वभाव का, अखण्ड वर्ते ज्ञान।  
कहते केवलज्ञान वह, देह सहित परमात्म ॥११३॥

अन्वयार्थ—( केवल ) सम्पूर्ण अर्थात् राग-द्वेष रहित ( निज स्वभावनुं ) अपने आत्मस्वभाव का, ( अखण्ड ) नाश को न प्राप्त हो, ऐसा ( ज्ञान ) जो ज्ञान ( वर्ते ) प्रगट हो, ( ते ) उस ज्ञान को ( केवलज्ञान ) सम्पूर्ण पवित्र ज्ञान ( कहिए ) कहा जाता है, ( देह ) शरीर ( छतां ) होने पर भी ( निर्वाण ) उत्कृष्ट जीवन्मुक्तदशा यहाँ अनुभव में आती है ॥११३॥

सरलार्थ—सम्पूर्ण अर्थात् राग-द्वेषरहित अपने आत्मस्वभाव का, नाश न हो—वैसा जो ज्ञान प्रगट होता है, उस ज्ञान को सम्पूर्ण पवित्र ज्ञान अर्थात् अनन्त ज्ञान—केवलज्ञान कहा जाता है। यहाँ शरीर होने पर भी उत्कृष्ट जीवन्मुक्तदशा / अरिहन्तदशा अनुभव में आती है।

## अनादि विभाव के नाश का उपाय ज्ञान

कोटि वर्षनुं स्वप्न पण, जाग्रत थतां शमाय,  
तेम विभाव अनादिनो, ज्ञान थतां दूर थाय ॥११४॥

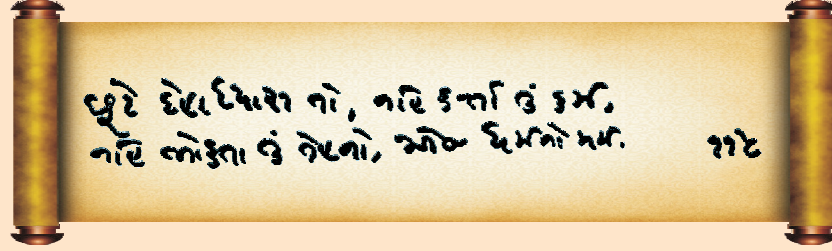
कोटि वर्षनुं स्वप्न पण, जाग्रत थतां शमाय;  
तेम विभाव अनादिनो, ज्ञान थतां दूर थाय ॥११४॥

कोटि वर्ष का स्वप्न भी, जाग्रत हो शम जाय ।  
त्यो विभाव अनादि का, ज्ञान होय क्षय पाय ॥११४॥

अन्वयार्थ—( कोटि ) करोड़ों ( वर्षनुं ) वर्षों का ( स्वप्न ) स्वप्न ( पण ) भी ( जाग्रत थतां ) वैसी दीर्घ निद्रा में से जागृत जीव को ( शमाय ) शमन हो जाता है, ( तेम ) उसी प्रकार ( अनादिनो ) अनादि का अर्थात् जिसकी शुरुआत नहीं, ऐसा ( विभाव ) मिथ्यात्वभाव ( ज्ञान ) आत्मज्ञान ( थतां ) होने पर ( दूर थाय ) टल जाता है ॥११४॥

सरलार्थ—करोड़ों वर्षों का स्वप्न भी वैसी दीर्घकालीन नींद में से जागृत हुए जीव को शमन हो जाता है, उसी प्रकार अनादि का अर्थात् जिसकी शुरुआत नहीं, ऐसा मिथ्यात्वभाव आत्मज्ञान होने पर अभावरूप होता है ।

## यह है धर्म का मर्म



छूटे देहाध्यास तो, नहिं कर्ता तुं कर्म;  
नहिं भोक्ता तुं तेहनुं, ए ज धर्मनो मर्म ॥११५॥

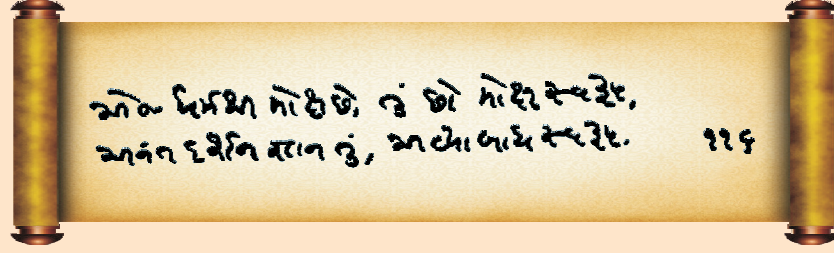
छूटे देहाध्यास तो, नहिं कर्ता तू कर्म।  
कर्म-फल-भोक्ता न तू, यही धर्म का मर्म ॥११५॥

अन्वयार्थ—( देहाध्यास ) शरीर मेरा है—ऐसी भ्रमणा अर्थात् मैं शरीर का कुछ कर सकता हूँ, ऐसी भ्रमणा ( छूटे ) जीव ज्ञानभाव से छोड़े ( तो ) तो ( तुं ) तू ( कर्म कर्ता ) भावकर्म का कर्ता नहीं और ( तुं ) तू ( तेहनुं ) उस भावकर्म का ( भोक्ता ) भोगनेवाला ( नहिं ) भी नहीं अर्थात् तू उसका ज्ञातादृष्टा है ( ए ज ) यही ( धर्मनो ) धर्म का ( मर्म ) रहस्य है ॥११५॥

सरलार्थ—शरीर मेरा है—ऐसी भ्रमणा अर्थात् मैं शरीर का कुछ कर सकता हूँ—ऐसी भ्रमणा ( अर्थात् मिथ्यात्वभाव ) ज्ञानभाव से छोड़ तो तू भावकर्म का कर्ता नहीं और तू उस भावकर्म का भोगनेवाला भी नहीं अर्थात् तू उसका ज्ञातादृष्टा है, यही धर्म का रहस्य है ।



## जीव स्वयं ही मोक्षस्वरूप है



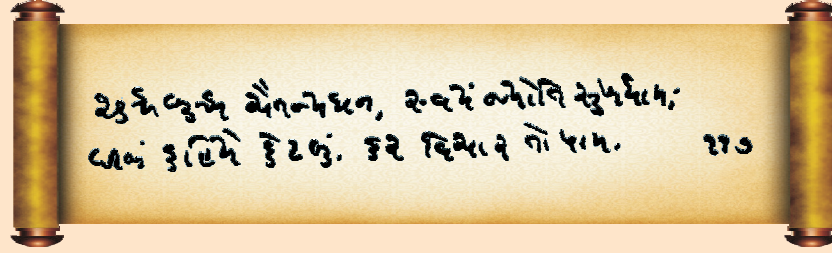
ए ज धर्मथी मोक्ष छे, तू छे मोक्षस्वरूप;  
अनन्त दर्शन ज्ञान तू, अव्याबाध स्वरूप ॥११६ ॥

यही धर्म है मोक्षप्रद, तू है मोक्षस्वरूप।  
अनन्त दर्शन-ज्ञान तू, अव्याबाध स्वरूप ॥११६ ॥

अन्वयार्थ—( ए ज ) इसी ( धर्मथी ) सच्ची मान्यतारूप तथा स्थिरतारूप धर्म से ( मोक्ष ) पूर्ण पवित्रता ( छे ) प्रगट होती है, ( तू ) तू ( मोक्षस्वरूप ) तीनों काल शुद्ध आत्मस्वरूप ( छे ) है, और ( तू ) तू ( अनन्त दर्शन ज्ञान ) अनन्त दर्शन-ज्ञानस्वरूप तथा ( अव्याबाध ) किसी से तुझे बाधा / नुकसान न हो, ऐसा तेरा ( स्वरूप ) स्वरूप / स्वभाव है ॥११६ ॥

सरलार्थ—इसी सच्ची मान्यता तथा सम्यग्दर्शन और स्थिरतारूप अर्थात् सम्यक्चारित्ररूप धर्म से पूर्ण पवित्रता प्रगट होती है। तू तीनों काल मुक्तस्वरूप शुद्ध आत्मस्वभाव है और तू अनन्त दर्शन-ज्ञानस्वरूप है तथा तुझे किसी से बाधा अर्थात् नुकसान न हो, ऐसा तेरा स्वरूप / स्वभाव है।

## आत्मा का स्वभाव, उसका विचार और प्राप्ति



शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयंज्योति सुखधाम;  
बीजुं कहिये केटलुं? कर विचार तो पाम ॥११७॥

शुद्ध बुद्ध चैतन्य-घन, स्वयं-ज्योति सुख-धाम ।  
और अधिक कितना कहें, कर विचार तो पाम ॥११७॥

अन्वयार्थ—( शुद्ध ) तू शुद्ध है अर्थात् रागादि और देहादिक सर्व परभावों से पृथक् है ( बुद्ध ) तू बोध स्वरूप है ( चैतन्यघन ) चैतन्य का घन पिण्ड है, ( स्वयंज्योति ) तू स्वयं ही ज्ञानज्योति है अर्थात् तेरे शुद्ध ज्ञान द्वारा विकार का नाश करनेवाला है ( सुखधाम ) अर्थात् तू सुख का भण्डार है ( बीजुं ) अधिक ( केटलुं कहिये ? ) कितना कहना ? ( कर विचार ) तू स्वयं इस स्वरूप का विचार कर ( तो पाम ) तो तेरी शुद्धता प्राप्त करेगा ॥११७॥

सरलार्थ—तू शुद्ध है अर्थात् रागादिक और देहादिक समस्त परभावों से भिन्न है; तू बोधस्वरूप है, चैतन्य का घनपिण्ड है, तू स्वयं ही ज्ञानज्योति है; इसलिए अपने शुद्ध ज्ञान द्वारा विकार का अभाव करनेवाला है और तू सुख का भण्डार है। अधिक क्या कहना ? तू स्वयं इस स्वरूप का विचार कर तो तेरी शुद्धता प्राप्त करेगा ।

## सभी ज्ञानियों का यही निर्णय है

निश्चय सर्वे ज्ञानीनो, आवी अत्र समाय,  
धरी मौनता अेम कही, सहजसमाधि मांय ॥११८॥

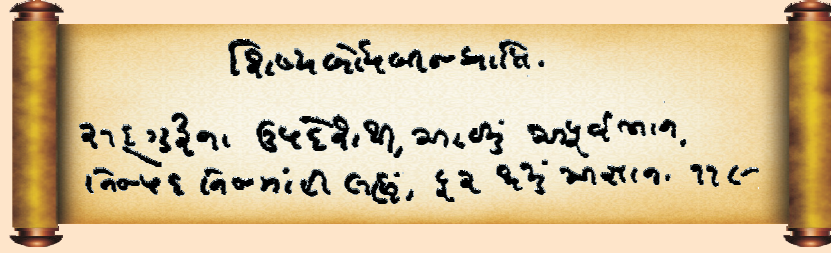
निश्चय सर्वे ज्ञानीनो, आवी अत्र समाय;  
धरी मौनता अेम कही, सहजसमाधि मांय ॥११८॥

निश्चय सब ही ज्ञानी का, आकर यहाँ समाय ।  
यों कहकर धरि मौनता, सहज समाधि थाय ॥११८॥

अन्वयार्थ—( सर्वे ) समस्त ( ज्ञानीनो ) ज्ञानियों का ( निश्चय ) निर्णय ( आवी अत्र समाय ) इसमें आ जाता है अर्थात् समाहित हो जाता है, ( अेम ) ऐसा ( कही ) कहकर सद्गुरु ( सहज समाधि मांय ) अपने सहज स्वभाव में स्थिर हुए और ( धरि मौनता ) सहज मौनता को प्राप्त हुए अर्थात् वाणी बन्द हुई ॥११८॥

सरलार्थ—समस्त ज्ञानियों का निर्णय उसमें समाहित हो जाता है, ऐसा कहकर सद्गुरु अपने सहज स्वभाव में स्थिर हुए और सहज मौनता को प्राप्त हुए अर्थात् वाणी बन्द हुई ।

## शिष्य बोधबीज प्राप्ति



सद्गुरुना उपदेशथी, आव्युं अपूर्व भान;  
निजपद निजमांही लह्यं, दूर थयुं अज्ञान ॥११९॥

सद्गुरु के उपदेश से, आया अपूर्व भान।  
निजपद निज में अनुभवे, दूर हुआ अज्ञान ॥११९॥

अन्वयार्थ—(सद्गुरुना) आत्मज्ञानी गुरु का (उपदेशथी) उपदेश सुनकर स्वस्वरूप विचारने पर (अपूर्व) पूर्व में कभी नहीं हुआ ऐसा (भान) आत्मभान (आव्युं) प्रगट हुआ और (निजपद) अपनी ज्ञानदशा (निज मांही) आत्मा में से (लह्यं) स्वयं प्रगट की और (अज्ञान) अज्ञानदशा (दूर थयुं) का अभाव किया ॥११९॥

सरलार्थ—आत्मज्ञानी गुरु का उपदेश सुनकर स्वस्वरूप का विचार करने से पूर्व में कभी नहीं हुआ, ऐसा अभूतपूर्व आत्मभान प्रगट हुआ और अपनी ज्ञानदशा आत्मा में से स्वयं ने प्रगट की और अज्ञानदशा का अभाव किया।

## अज्ञान दूर होने पर क्या हुआ ?

मा. सं. (वि. २-५३५ ते, शुद्ध चेतना ३५,  
२०२ अमर अविनाशी ने, देहातीत स्वरूप ॥१२०

भास्यु निजस्वरूप ते, शुद्ध चेतनारूप;  
अजर अमर, अविनाशी ने, देहातीत स्वरूप ॥१२० ॥

प्रतिभासे निज-स्वरूप वह, शुद्ध चेतना रूप।  
अजर अमर अविनाशी अरु, देहातीत स्वरूप ॥१२० ॥

अन्वयार्थ—( निजस्वरूप ) आत्मा का स्वरूप ( ते ) वह ( शुद्ध ) त्रिकाल शुद्ध  
( चेतनारूप ) चैतन्यस्वरूप, ( अजर ) जरा / वृद्धापन न पहुँचे ऐसा, ( अमर ) मरे नहीं  
ऐसा ( अविनाशी ) नाश न हो ऐसा ( ने ) और ( देहातीत ) देह से अत्यन्त पृथक्  
( स्वरूप भास्यु ) है, ऐसा ज्ञान में स्वरूप भासित हुआ ॥१२० ॥

सरलार्थ—आत्मा का स्वरूप त्रिकाल शुद्ध चैतन्यस्वरूप, जरा अर्थात् वृद्धापन न  
प्राप्त हो ऐसा, मरण को न प्राप्त हो ऐसा, नाश न हो ऐसा और शरीर से अत्यन्त भिन्न स्वरूप  
ज्ञान में भासित हुआ ।



## शिष्य की स्वानुभव घोषणा

इति लोका इमिणे, विला ९ एतेषां च,  
वृत्ति वही निजभावमां, थयो अकर्ता त्यांय ॥१२१॥

कर्ता-भोक्ता कर्मनो, विभाव वर्ते ज्यांय;  
वृत्ति वही निजभावमां, थयो अकर्ता त्यांय ॥१२१॥

कर्ता-भोक्ता कर्म का, विभाव वर्ते जहाँ।  
वृत्ति वही निजभाव में, हुआ अकर्ता वहाँ ॥१२१॥

अन्वयार्थ—( विभाव ) मिथ्यात्व ( ज्यांय ) जहाँ ( वर्ते ) वर्तता है, वहाँ ( कर्मनो ) विकारी भाव का जीव ( कर्ता-भोक्ता ) कर्ता-भोक्ता है; ( निजभावमां ) आत्मस्वभाव में ( वृत्ति वही ) पर्याय उन्मुख हुई ( त्यांय ) तब जीव विकारी भाव का ( अकर्ता थयो ) कर्ता-भोक्ता होता नहीं ॥१२१॥

सरलार्थ—जहाँ मिथ्यात्व वर्तता है, वहाँ जीव विकारी भाव का कर्ता-भोक्ता है। आत्मस्वभाव में पर्याय सन्मुख होती है, तब जीव विकारी भाव का कर्ता-भोक्ता नहीं होता।

## शिष्य द्वारा निर्विकल्पस्वरूप का दिग्दर्शन

अथवा निज-परिणाम जे, शुद्ध चेतनारूप,  
कर्ता-भोक्ता तेहनूं, निर्विकल्प स्वरूप ॥१२२॥

अथवा निज परिणाम जे, शुद्ध चेतनारूप;  
कर्ता-भोक्ता तेहनूं, निर्विकल्प स्वरूप ॥१२२॥

अथवा निज-परिणाम जो, शुद्ध चेतना रूप।  
कर्ता-भोक्ता उस ही का, निर्विकल्प स्वरूप ॥१२२॥

अन्वयार्थ—( अथवा ) दूसरे प्रकार से कहने पर आत्मा का ( शुद्ध ) जैसा शुद्ध ( चेतनारूप ) त्रिकाली चेतनास्वरूप है, ( जे ) वैसी ही ( निज परिणाम ) अपनी शुद्ध अवस्था को प्राप्त हुआ और ( तेहनूं ) उसका वह ( कर्ताभोक्ता ) कर्ता-भोक्ता हुआ और ( निर्विकल्प ) विकल्परहित ( स्वरूप ) अपना स्वरूप प्राप्त किया ॥१२२॥

सरलार्थ—दूसरे प्रकार से कहा जाये तो आत्मा का जैसा शुद्ध त्रिकाली चेतनास्वरूप है, वैसी ही अपनी शुद्ध अवस्था को प्राप्त हुआ और उसका वह कर्ता-भोक्ता हुआ और विकल्परहित अपना स्वरूप प्राप्त किया।

## शिष्य द्वारा प्रमोद की अभिव्यक्ति

मोक्ष इच्छे निज-शुद्धता, ते पामे ते पंथ;  
समजाव्यो संक्षेपमां, सकळ मार्ग निर्ग्रन्थ. १२३

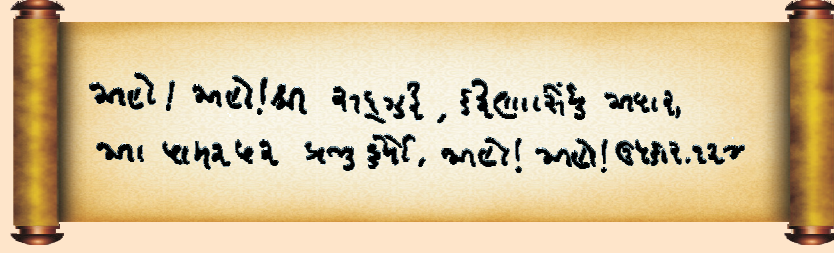
मोक्ष कह्यो निज शुद्धता, ते पामे ते पंथ;  
समजाव्यो संक्षेपमां, सकळ मार्ग निर्ग्रन्थ ॥१२३॥

मोक्ष है निज-शुद्धता, हो जिससे वह पंथ।  
समझाया संक्षेप में, सकल मार्ग निर्ग्रन्थ ॥१२३॥

अन्वयार्थ—( निज शुद्धता ) अपनी पूर्ण पवित्रता को ( मोक्ष कह्यो ) मोक्ष कहा जाता है, ( ते ) वह शुद्धता ( पामे ) जिस प्रकार प्राप्त हो, ( ते पंथ ) वह उसका उपाय है और वह ( निर्ग्रन्थ ) वीतरागी ( सकळ ) समस्त ( मार्ग ) मार्ग ( संक्षेपमां ) संक्षिप्त में श्री सद्गुरु ने ( समजाव्यो ) यहाँ समझाया है ॥१२३॥

सरलार्थ—अपनी पूर्ण पवित्रता को मोक्ष कहा जाता है। वह शुद्धता / पवित्रता जिस प्रकार से प्राप्त होती है, उसका उपाय अर्थात् मार्ग है और वह वीतरागी मार्ग यहाँ संक्षिप्त में श्री सद्गुरु ने समझाया है।

## उपकारी सद्गुरु के प्रति शिष्य का अहो भाव!



अहो! अहो! श्री सद्गुरु, करुणा सिन्धु अपार;  
आ पामर पर प्रभु कर्यो, अहो! अहो! उपकार ॥१२४॥

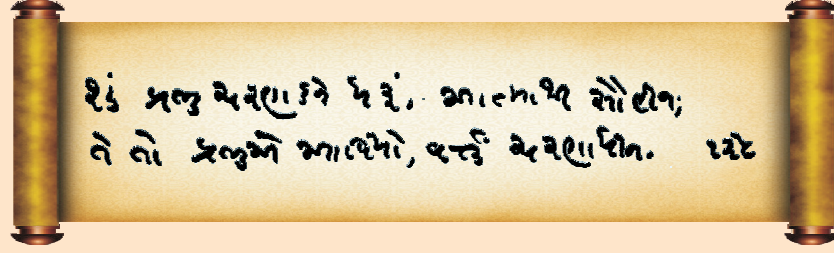
अहो! अहो! श्री सद्गुरु, करुणा-सिन्धु अपार।  
इस पामर पर प्रभु किया, अहो! अहो! उपकार ॥१२४॥

---

अन्वयार्थ—(अहो अहो!) अहो अहो! (श्री) आत्मलक्ष्मीयुक्त (सद्गुरु) सद्गुरु (करुणा सिन्धु अपार) आप वीतरागी करुणा के अपार समुद्र हो! (प्रभु) आप प्रभु ने (आ पामर पर) इस पामर जीव के प्रति (अहो अहो) महान आश्चर्य कारक (उपकार) उपकार (कर्यो) किया है ॥१२४॥

सरलार्थ—अहो अहो आत्मलक्ष्मीयुक्त सद्गुरुदेव! आप वीतरागी करुणा के अपार सागर हैं। आप प्रभु ने इस पामर जीव के ऊपर महान आश्चर्यकारक उपकार किया है।

## शिष्य की सर्वार्पण भावना



सूं प्रभु चरण कने धरुं, आत्माथी सौ हीन;  
ते तो प्रभुए आपियो, वर्तुं चरणाधीन ॥१२५॥

क्या प्रभु-चरणों में धरुं, आत्मा से सब हीन।  
वह तो प्रभु ने ही दिया, रहुं चरण आधीन ॥१२५॥

अन्वयार्थ—(सूं प्रभु चरण कने धरुं) में आपके चरण के निकट क्या रखूं? आप परम निष्काम हो (आत्माथी सौ हीन) जगत के सर्व पदार्थ आत्मा की अपेक्षा हीन हैं और (ते तो) वैसा शुद्ध आत्मा तो (प्रभुये) आप सद्गुरु ने (आपियो) समझाया है, इसलिए अब (चरणाधीन) आपके चरण अर्थात् आपने समझाये हुए आत्मस्वरूप के आधीन (वर्तुं) वर्तता हूँ ॥१२५॥

सरलार्थ—हे सद्गुरुदेव! मैं आपके चरणों के समक्ष क्या रखूं? क्योंकि आप परम निष्काम हो। जगत के सर्व पदार्थ आत्मा की अपेक्षा से हीन हैं और वह शुद्ध आत्मा तो आप सद्गुरु प्रभु ने समझाया है, इसलिए अब आपके चरण अर्थात् आपके द्वारा समझाये गये आत्मस्वरूप के आधीन वर्तता हूँ।



## शिष्य की सद्गुरु प्रभु-आधीन वर्तन की भावना

आ देहादि आजथी, वर्तो प्रभु आधीन,  
दास, दास, हुं दास छुं, तेह प्रभुनो दिन. १२६

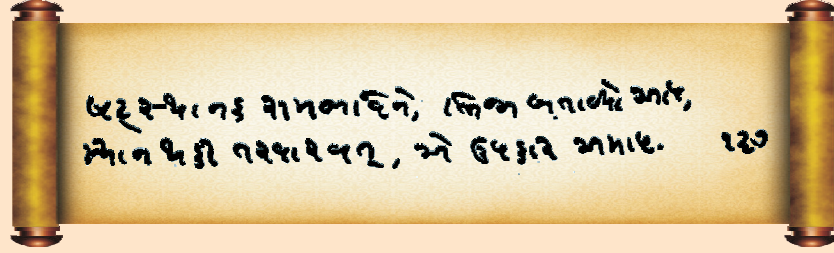
आ देहादि आजथी, वर्तो प्रभु आधीन;  
दास, दास, हुं दास छुं, तेह प्रभुनो दिन ॥१२६ ॥

यह देहादि आज से, वर्तो प्रभु आधीन।  
दास, दास, मैं दास हूँ, आप प्रभु का दीन ॥१२६ ॥

अन्वयार्थ—( आ ) यह ( देहादि ) देह इत्यादि ( प्रभु आधीन ) आप सद्गुरु प्रभु की आज्ञा अनुसार ( आजथी ) आज से ( वर्तो ) वर्तो, ऐसी मेरी भावना है अर्थात् देह या परवस्तु का मैं कुछ नहीं कर सकता, ऐसी जो आपने आज्ञा समझायी है, उसे मानकर तत्प्रमाण वर्तता हूँ ( तेह ) वैसे ( प्रभुनो ) ज्ञानी पुरुषों का ( हूँ ) मैं ( दीन ) नम्र ( दास दास दास ) दास दास दास ( छुं ) हूँ ॥१२६ ॥

सरलार्थ—यह देह इत्यादि आप सद्गुरु प्रभु की आज्ञानुसार आज से वर्ते, ऐसी मेरी भावना है। तात्पर्य यह है कि देह अथवा परवस्तु का मैं कुछ भी नहीं कर सकता, ऐसी जो आपने आज्ञा समझायी है, उसे मानकर तत्प्रमाण वर्तन करूँ, ऐसे ज्ञानी पुरुषों का मैं नम्र दास, दास, दास हूँ। यहाँ तीन बार 'दास' कहा है, वह रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य की एकता की भावना को सूचित करता है।

## गुरु के अमाप उपकारी की प्रसिद्धि



षट् स्थानक समझावीने, भिन्न बताव्यो आप;  
म्यान थकी तरवारवत्, ए उपकार अमाप ॥१२७॥

षट् स्थानक समझाय कर, भिन्न बताया आप।  
म्यान जुदी तलवार वत्, यह उपकार अमाप ॥१२७॥

अन्वयार्थ—( आप ) आपने ( षट्स्थानक ) छह पद ( समझावीने ) समझाकर ( म्यान थकी ) म्यान से ( तलवारवत् ) तलवार की भाँति ( भिन्न ) आत्मा अत्यन्त भिन्न है अर्थात् कोई किसी का कुछ नहीं कर सकता, ऐसा ( बताव्यो ) बतलाया है ( ए ) यह आपका ( अमाप ) अपार ( उपकार ) उपकार है ॥१२७॥

सरलार्थ—आपने छह पद समझाकर म्यान से पृथक् तलवार की भाँति आत्मा अत्यन्त भिन्न है अर्थात् कोई किसी का कुछ नहीं कर सकता, ऐसा स्पष्ट बतलाया है, यह आपका अपार-अमाप उपकार है।

## उपसंहार

६५ श्लोक

दर्शन षटे शमाय छे, आ षट् स्थानक मांही,  
विचारतां विस्तारथी, संशय रहे न कांई ॥१२८॥

दर्शन षटे शमाय छे, आ षट् स्थानक मांही;  
विचारतां विस्तारथी, संशय रहे न कांई ॥१२८॥

षट् दर्शन गर्भित हुए, इन षट् स्थानक मांहीं ।  
मनन करत विस्तार से, संशय रहे न कोई ॥१२८॥

अन्वयार्थ—( आ ) इस ( षट्स्थानक मांही ) छह पद में ( दर्शन षटे ) जगत में प्रवर्तित एकान्त छहों दर्शन में ( शमाय छे ) रहनेवाली भूल समझ में आ जाती है और इन छह पद का ( विस्तारथी ) समस्त पहलुओं से अर्थात् अनेकान्त दृष्टि से ( विचारतां ) विचार करने से ( संशय कांई ) आत्मा के स्वरूप की कुछ भी शंका ( रहे न ) रहती नहीं है ॥१२८॥

सरलार्थ—इन छह पदों में जगत में चलनेवाले एकान्तिक छहों दर्शनों में रही हुई भूल समझ में आ जाती है और इन छह पदों का सभी पक्षों से अर्थात् अनेकान्त दृष्टि से विचार करने पर आत्मा के स्वरूप की कुछ भी शंका नहीं रहती है ।

## रोग, वैद्य, औषध और पथ्य क्या ?

आत्मभ्रान्ति सम रोगादि, सद्गुरु वैद्य सुजाण,  
गुरु आज्ञा सम पथ्यदि, औषध विचार ध्यान. १२९

आत्मभ्रान्ति सम रोग नहीं, सद्गुरु वैद्य सुजाण;  
गुरु आज्ञा सम पथ्य नहीं, औषध विचार ध्यान ॥१२९॥

आत्म-भ्रान्ति सम रोग नहीं, सद्गुरु वैद्य सुजाण ।  
गुरु-आज्ञा सम पथ्य नहीं, औषध विचार ध्यान ॥१२९॥

अन्वयार्थ—( आत्मभ्रान्ति ) आत्मा की अभान दशा ( सम ) जैसा ( रोग नहीं ) कोई रोग नहीं और ( सद्गुरु ) आत्मज्ञानी गुरु ( वैद्य सुजाण ) उस रोग को मिटाने के लिये सच्चे जानकार वैद्य हैं । ( गुरु आज्ञा ) सद्गुरु ने समझाया हुआ आत्मा के स्वरूप का सच्चा ज्ञान ( सम ) जैसा दूसरा कोई ( पथ्य ) पथ्य ( नहीं ) नहीं, और ( औषध ) उस रोग की दवा ( विचार-ध्यान ) आत्मस्वरूप का विचार और ध्यान है ॥१२९॥

सरलार्थ—आत्मभ्रान्ति अर्थात् आत्मा की अभानदशा जैसा कोई रोग नहीं है और आत्मज्ञानी गुरु उस रोग को मिटाने के लिये सच्चे जानकार अर्थात् अनुभवी वैद्य हैं । सद्गुरु ने समझाया हुआ आत्मस्वरूप के ज्ञान जैसा दूसरा कोई पथ्य नहीं है । और उस रोग की दवा आत्मस्वरूप का विचार और ध्यान है ।

## सत्य पुरुषार्थ की प्रेरणा

जे इच्छे परमार्थते, इणे सत्ये पुरुषार्थे,  
भवस्थिति आदि नाम लई, छेदो नहिं आत्मार्थे १३०

जो इच्छो परमार्थ तो, करो सत्य पुरुषार्थ;  
भवस्थिति आदि नाम लई, छेदो नहिं आत्मार्थ ॥१३०॥

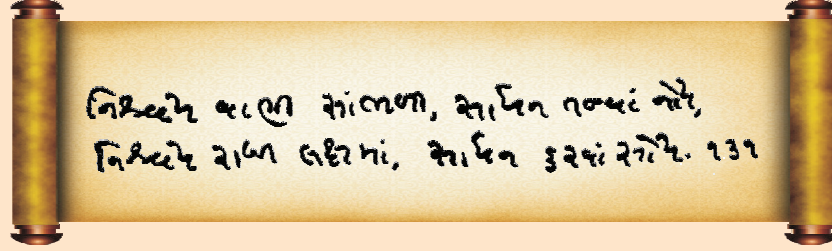
यदि इच्छा परमार्थ की, करो सत्य पुरुषार्थ।  
भव-स्थिति आदि नाम ले, छेदो नहिं आत्मार्थ ॥१३०॥

अन्वयार्थ—( जो ) यदि ( परमार्थ ) आत्मा के शुद्ध स्वरूप की ( इच्छो ) भावना हो ( तो ) तो ( सत्य ) आत्मा के त्रिकाली स्वरूप की ओर ( पुरुषार्थ ) पुरुषार्थ को ( करो ) उन्मुख करो। ( भवस्थिति ) भव पूरे होने होंगे, तब होंगे ( आदि ) इत्यादि ( नाम लई ) झूठे बहाने बनाकर ( आत्मार्थ ) आत्मा के लाभ को ( छेदो नहीं ) छेदो नहीं ॥१३०॥

सरलार्थ—यदि आत्मा के शुद्ध स्वरूप की भावना हो तो आत्मा के त्रिकाली स्वरूप की ओर पुरुषार्थ को लगाओ। 'जब भव पूर्ण होने होंगे, तब होंगे'—ऐसे मिथ्या बहाने करके आत्मा के लाभ का छेदन नहीं करो।



## निश्चय के लक्ष्यपूर्वक साधन की प्रेरणा



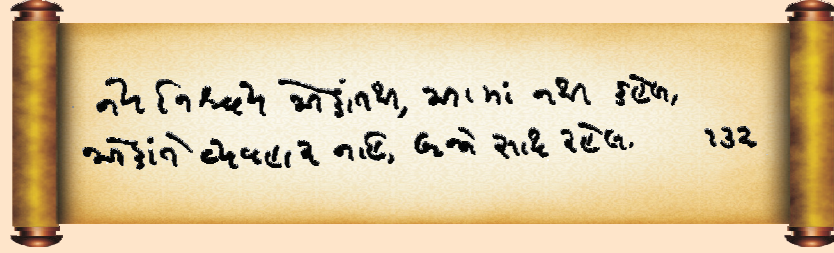
निश्चयवाणी सांभळी, साधन तजवां नो 'य;  
निश्चय राखी लक्षमां, साधन करवां सोय ॥१३१॥

निश्चय वाणी श्रवण कर, साधन तजो न कोय ।  
निश्चय रखकर लक्ष्य में, साधन करने योग्य ॥१३१॥

अन्वयार्थ—( निश्चयवाणी ) आत्मा का त्रिकाली स्वरूप बतलानेवाली वाणी ( साम्भली ) सुनकर ( साधन ) सच्चा पुरुषार्थ ( तजवां नोय ) छोड़ना नहीं परन्तु ( निश्चय ) उस त्रिकाली आत्मस्वरूप को ( राखी लक्षमां ) लक्ष्य में रखकर अर्थात् बराबर समझकर शुद्धता ( साधन करवां सोय ) प्रगट करने के लिये पुरुषार्थ करना चाहिए ॥१३१॥

सरलार्थ—आत्मा का त्रैकालिक स्वरूप बतलानेवाली वाणी सुनकर, सच्चा पुरुषार्थ छोड़ना नहीं परन्तु उस त्रिकाली आत्मस्वरूप को लक्ष्य में रखकर अर्थात् भलीभाँति समझकर शुद्धता प्रगट करने के लिये पुरुषार्थ करना चाहिए ।

## निश्चय-व्यवहार की सुसंगतता



नय निश्चय एकांतथी, आमां नथी कहेल;  
एकांते व्यवहार नहिं, बन्ने साथ रहेल ॥१३२॥

नय निश्चय एकान्त से, यहाँ कहा नहिं लेश।  
एकान्त नहिं व्यवहार भी, उभयदृष्टि सापेक्ष ॥१३२॥

अन्वयार्थ—( एकांतथी ) अकेला ( निश्चय ) त्रिकाली स्वरूप बतलानेवाला ( नय ) ज्ञान का पक्ष ( आमां ) इसमें ( नहीं कहेल ) कहा नहीं है तथा ( एकान्ते ) अकेला ( व्यवहार ) वर्तमान पर्याय को बतलानेवाला ज्ञान का पक्ष ( नहिं ) कहा नहीं है परन्तु निश्चय और व्यवहार ( बन्ने ) दोनों ( साथ रहेल ) साथ रहे हुए हैं ॥१३२॥

सरलार्थ—मात्र त्रिकाली स्वरूप बतलानेवाला ज्ञान का पक्ष इसमें नहीं कहा है और अकेला वर्तमान पर्याय बतलानेवाला ज्ञान का पक्ष नहीं कहा है, किन्तु निश्चय और व्यवहार दोनों साथ में रहे हुए हैं।

## निश्चय-व्यवहार सम्बन्धी विपर्यास

गच्छ मतनी जे कल्पना, ते नहिं सद्व्यवहार,  
भान नहिं निजरूपनुं, ते निश्चय नहिं सार. १३३

गच्छमतनी जे कल्पना, ते नहिं सद्व्यवहार;  
भान नहिं निजरूपनुं, ते निश्चय नहिं सार ॥१३३॥

गच्छ-मत की कल्पना, वह नहिं सद्व्यवहार।  
भान नहिं निजरूप का, वह निश्चय नहिं सार ॥१३३॥

अन्वयार्थ—( गच्छमतनी ) गच्छ और मत की ( जे कल्पना ) जो उल्टी पकड़,  
( ते ) वह ( सद्व्यवहार ) सच्चा व्यवहार ( नहिं ) नहीं है और ( निज स्वरूपनुं ) अपने  
आत्मस्वरूप का ( भान नहिं ) भान न होना, ( वह ते ) वह ( निश्चय ) वास्तव में ( नहिं  
सार ) असार है ॥१३३॥

सरलार्थ—मत और गच्छ की जो विपरीत पकड़ है, वह सच्चा व्यवहार नहीं है  
और अपने आत्मस्वरूप का भान न होना, वह वास्तव में असार है।

## त्रिकालवर्ती ज्ञानियों का एक ही मार्ग

आगळ ज्ञानी थई गया, वर्तमानमां होय,  
थासे काळ भविष्यमां, मार्ग भेद नाहें कोय. १३४

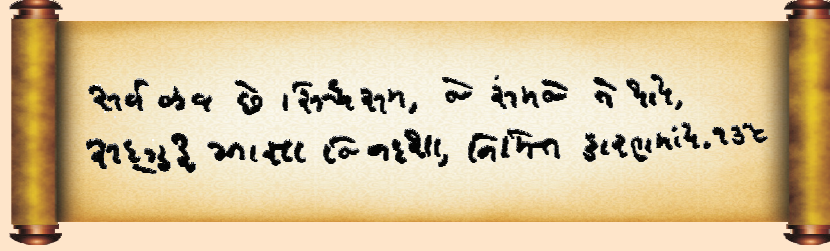
आगळ ज्ञानी थई गया, वर्तमानमां होय;  
थासे काळ भविष्यमां, मार्गभेद नहिं कोय ॥१३४॥

पहले ज्ञानी हो गये, वर्तमान में होंय।  
होंगे काल भविष्य में, मार्ग-भेद नहिं कोय ॥१३४॥

अन्वयार्थ—( आगळ ) भूतकाल में जो ( ज्ञानी ) ज्ञानी ( थई गया ) हो गये हैं,  
( वर्तमानमां ) वर्तमान में जो ( होय ) है और ( भविष्यमां ) भविष्य ( काळ ) काल में जो  
( थासे ) होंगे, वे ( मार्ग ) मोक्ष का उपाय ( भेद नहिं कोय ) एक ही बतलाते हैं ॥१३४॥

सरलार्थ—भूतकाल में जो ज्ञानी हो गये हैं, वर्तमान में हैं और भविष्य काल में जो  
होंगे, वे सभी ज्ञानी मोक्ष का उपाय एक ही बतलाते हैं अर्थात् काल भेद और क्षेत्र भेद से  
मार्ग में भेद नहीं होता ।

## मुमुक्षु का उपादान और निमित्त सम्बन्धी विचार



सर्व जीव छे सिद्ध सम, जे समजे ते थाय;  
सद्गुरुआज्ञा जिनदशा, निमित्त कारण मांय ॥१३५॥

सर्व जीव हैं सिद्ध-सम, जो समझे वह होय।  
सद्गुरु-आज्ञा जिन-दशा, निमित्त-कारण होय ॥१३५॥

अन्वयार्थ—( सर्व जीव ) सभी जीव ( सिद्ध सम ) त्रिकाल शुद्ध चैतन्यस्वरूप ( छे ) हैं, ऐसा ( जे ) जो ( समजे ) समझता है, ( ते ) वह ( थाय ) सिद्धत्व प्रगट करता है, उसमें ( सद्गुरु आज्ञा ) आत्मज्ञानी पुरुष ने समझाये हुए आत्मस्वरूप का बोध और ( जिनदशा ) सद्गुरु की वीतरागी दशा ( निमित्त ) उपस्थितिरूप ( कारण मांय ) कारण होती है ॥१३५॥

सरलार्थ—सभी जीव त्रिकाल शुद्ध चैतन्यस्वरूप अशरीरी सिद्ध परमात्मा समान ही है, ऐसा जो जीव समझता है, वह सिद्धपना प्रगट करता है। उसमें आत्मज्ञानी गुरु द्वारा समझाया गया आत्मस्वरूप का बोध और सद्गुरु की वीतरागी दशा उपस्थितिरूप अर्थात् निमित्तरूप कारण होती है।



## वे भ्रान्ति में स्थित हैं—

उपादानं नाम लई, ए जे तजे निमित्त,  
पामे नहिं सिद्धत्वने, रहे भ्रान्तिमां स्थित. २३६

उपादानं नाम लई, ए जे तजे निमित्त;  
पामे नहिं सिद्धत्वने, रहे भ्रान्तिमां स्थित ॥१३६॥

उपादान का नाम ले, वह तो तजे निमित्त।  
पाये नहीं सिद्धत्व को, रहे भ्रान्ति में स्थित ॥१३६॥

अन्वयार्थ—( उपादानं ) आत्मा की अपनी शक्ति को समझे बिना ( नाम लई )  
उसका बहाना लेकर ( ए जे ) जो वह ( निमित्त ) सत्समागम को ( तजे ) छोड़ते हैं, वे  
( सिद्धत्वने ) सिद्धपने को ( पामे नहीं ) प्राप्त नहीं करते और ( भ्रान्तिमां ) उल्टी पकड़ में  
( स्थित रहे ) टिका करते हैं ॥१३६॥

सरलार्थ—आत्मा की अपनी शक्ति को समझे बिना उसका बहाना लेकर जो इस  
सत्समागम को त्यागता है, वह सिद्धपने को प्राप्त नहीं करता और भ्रान्ति अर्थात् विपरीत  
पकड़ में स्थित रहता है।

## कौन करता है ज्ञानी का द्रोह

मुखी ज्ञान कथे अने, अंतर छूट्यो न मोह,  
ते पामर प्राणी करे, मात्र ज्ञानीनो द्रोह. १३७

मुखी ज्ञान कथे अने, अंतर छूट्यो न मोह;  
ते पामर प्राणी करे, मात्र ज्ञानीनो द्रोह ॥१३७॥

मुख से ज्ञान कहें अरे! अन्तर छूटा न मोह।  
वह पामर प्राणी करे, मात्र ज्ञानी का द्रोह ॥१३७॥

अन्वयार्थ—( मुखी ) मुँह से ( ज्ञान कथे ) ज्ञान की बातें करे ( अने ) परन्तु ( अन्तर ) अन्तर से ( मोह ) पर का मैं कर सकता हूँ, यह इत्यादि भ्रमणा ( छूट्यो न ) जिसे मिटी नहीं है, ( ते ) वह ( पामर प्राणी ) पामर प्राणी ( मात्र ) केवल मात्र ( ज्ञानीनो ) अपने आत्मा का ( द्रोह ) द्रोह ( करे ) करता है ॥१३७॥

सरलार्थ—कोई जीव मुख से तो ज्ञान की बातें करता है परन्तु अन्तरंग में 'मैं पर का कर सकता हूँ' इत्यादि भ्रमणा जिसे मिटी नहीं है, वह पामर प्राणी ज्ञानी का अर्थात् ज्ञानस्वरूप अपने आत्मा का द्रोह करता है।

## ऐसा होता है मुमुक्षु का अन्तरंग

दया, शान्ति, समता, क्षमा, सत्य, त्याग, वैराग्य,  
होय मुमुक्षु घट विषे, एह सदाय सुजाग्य ॥१३८॥

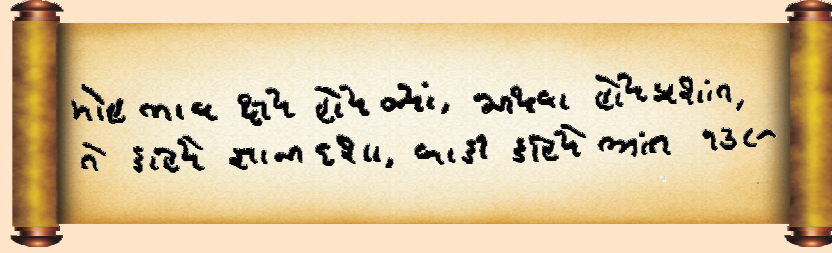
दया, शान्ति, समता, क्षमा, सत्य, त्याग, वैराग्य;  
होय मुमुक्षु घट विषे, एह सदाय सुजाग्य ॥१३८॥

दया, शान्ति, समता, क्षमा, सत्य, त्याग, वैराग्य।  
होय मुमुक्षु घट विषे, ये सब सदा सुजाग्य ॥१३८॥

अन्वयार्थ—( दया ) स्वस्वरूप की दया, ( शान्ति ) शान्ति ( समता ) समता, ( क्षमा ) स्वस्वरूप की रुचि अर्थात् अरुचि का अभाव, ( सत्य ) अपने त्रिकाली स्वरूप का लक्ष्य, ( त्याग ) विभावभाव को छोड़ना, ( वैराग्य ) राग को मिटाना—( ऐह ) यह ( मुमुक्षु ) मुमुक्षु के ( घट विषे ) आत्मा में ( सदाय ) हमेशा ( सुजाग्य ) भले प्रकार से जागृत ( होय ) होते हैं ॥१३८॥

सरलार्थ—स्वस्वरूप की दया, शान्ति, समता, स्वस्वरूप की रुचि अर्थात् स्वरूप अरुचि का अभाव, अपने त्रिकाली स्वभाव का लक्ष्य, विभावभाव को छोड़ना, राग को मिटाना—यह मुमुक्षु के आत्मा में हमेशा भले प्रकार से जागृत होते हैं ।

## ज्ञानी की दशा



मोहभाव क्षय होय ज्यां, अथवा होय प्रशान्त;  
ते कहीए ज्ञानीदशा, बाकी कहीए भ्रान्त ॥१३९॥

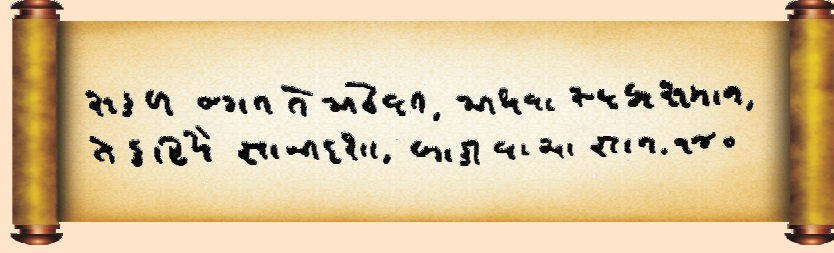
मोहभाव क्षय हो जहाँ, अथवा होय प्रशान्त।  
उसे कहें ज्ञानी-दशा, बाकी कहीए भ्रान्त ॥१३९॥

---

अन्वयार्थ—( मोहभाव ) स्वरूप की असावधानी का ( क्षय ) नाश ( ज्यां ) जहाँ ( होय ) होता है ( अथवा ) अथवा ( प्रशान्त होय ) जो असावधानी उपशान्त हो गयी है, ( ते ) वह ( ज्ञानीदशा ) सच्चे धर्म की दशा ( कहीए ) है, ( बाकी कहीए भ्रान्त ) बाकी सब भ्रमणा है ॥१३९॥

सरलार्थ—जहाँ स्वरूप की असावधानी का नाश होता है अथवा जो असावधानी उपशान्त हो गयी है, वह सच्चे धर्म की दशा है। बाकी सब भ्रमणा है।

## यह है ज्ञानी दशा; शेष कोरा ज्ञान



सकल जगत ते ऐंठवत्, अथवा स्वप्न समान;  
ते कहिये ज्ञानीदशा, बाकी वाचा ज्ञान ॥१४०॥

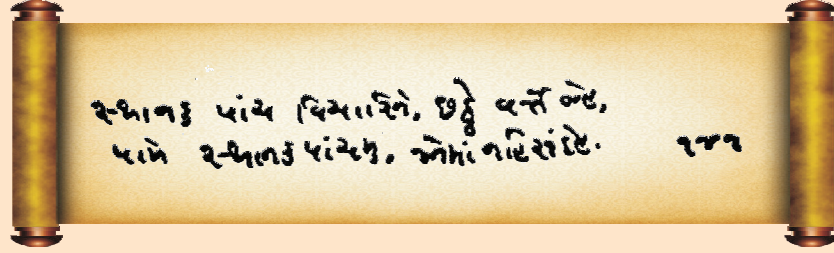
सकल जगत अच्छिष्टवत्, अथवा स्वप्न समान।  
उसे कहें ज्ञानी-दशा, बाकी वाचा ज्ञान ॥१४०॥

अन्वयार्थ—( सकल जगत ) समस्त परवस्तुएँ ( ते ) वह ( ऐंठवत् ) अच्छिष्ट जैसी अर्थात् आत्मा को लक्ष्य नहीं देनेयोग्य ( अथवा ) अथवा ( स्वप्न समान ) स्वप्न जैसी जानकर उनसे निर्मम अर्थात् ममतारहित रहता है, ( ते ) वह ( ज्ञानीदशा ) ज्ञानी पुरुषों की दशा ( कहिये ) होती है। ( बाकी ) ऐसी दशा न हो तो ( वाचा ज्ञान ) बोलनेमात्र ज्ञान है अर्थात् अज्ञानी है ॥१४०॥

सरलार्थ—जगत की समस्त परवस्तुएँ अच्छिष्टवत् है अर्थात् आत्मा को उनका लक्ष्य करनेयोग्य नहीं है अथवा स्वप्न जैसी जानकर, उनसे निर्मम अर्थात् ममतारहित रहता है, वह ज्ञानी पुरुषों की दशा होती है। ऐसी दशा न हो तो बोलनेमात्र ज्ञान है अर्थात् वह वास्तव में अज्ञानी है।



...इसमें सन्देह नहीं



स्थानक पांच विचारिने, छठे वर्ते जेह;  
पामे स्थानक पांचमुं, एमां नहिं संदेह ॥१४१॥

स्थानक पाँच विचार कर, छठवें में जो होय।  
पावे स्थानक पाँचवाँ, संशय नहिं है कोय ॥१४१॥

अन्वयार्थ—( स्थानक पांच ) पहले पाँच पद का ( विचारि ) विचार करके ( छठे ) मोक्ष का उपाय ( जेह ) जो जीव ( वर्ते ) धारण करता है, वह ( स्थानक पांचमुं ) पाँचवाँ पद अर्थात् मोक्ष ( पामे ) प्राप्त करता है, ( अमा ) इसमें ( नहिं संदेह ) कोई सन्देह नहीं है ॥१४१॥

सरलार्थ—पहले पाँच पदों का अर्थात् (१) आत्मा है, (२) नित्य है, (३) कर्ता है, (४) भोक्ता है, (५) मोक्ष है—विचार करके जो जीव मोक्ष का उपाय धारण करता है, वह पाँचवाँ पद अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है। इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं है।

## ज्ञानी को वन्दनपूर्वक अन्तिम मंगल

देह छतां जेनी दशा, वर्ते देहातीत,  
ते ज्ञानीनां चरणमां, हो वन्दन अगणित ॥१४२॥

देह छतां जेनी दशा, वर्ते देहातीत;  
ते ज्ञानीनां चरणमां, हो वन्दन अगणित ॥१४२॥

देह रहते जिनकी दशा, वर्ते देहातीत।  
उन ज्ञानी के चरण में, हो वन्दन अगणित ॥१४२॥

अन्वयार्थ—( देह छतां ) शरीर होने पर भी ( जेनी ) जिसने आत्मा की ( देहातीत ) शरीर से पर अर्थात् शरीर मेरा नहीं, मैं शरीर का कुछ कर नहीं सकता ऐसी ( दशा ) अवस्था ( वर्ते ) प्रगट की है, ( ते ) उन ( ज्ञानीनां ) ज्ञानी पुरुष के ( चरणमां ) चरणकमल में ( हो वन्दन अगणित ) अगणित वन्दन हो ॥१४२॥

सरलार्थ—शरीर होने पर भी जिसने आत्मा को शरीर से पर अर्थात् शरीर मेरा नहीं और मैं शरीर का कुछ नहीं कर सकता, ऐसी अवस्था प्रगट की है, उन ज्ञानी पुरुष के चरण कमल में अगणित ( असंख्य-बारम्बार ) वन्दन हो।

परम कृपालुदेव श्रीमद् राजचन्द्रजी द्वारा रचित इस 'आत्मसिद्धि शास्त्र' में समाहित गम्भीर रहस्यों का रसपान करने हेतु, इस ग्रन्थ पर पूज्य गुरुदेवश्री के दिनांक 19.9.1939 से 29.9.1939 तक हुए 'आत्मसिद्धि प्रवचन' ग्रन्थ का अवश्य स्वाध्याय करें।

## आत्मसिद्धि शास्त्र : परिशिष्ट

(गाथा - १)

शारीरिक, मानसिक अनन्त प्रकार के दुःखों से आकुल-व्याकुल जीवों को उन दुःखों से छूटने की बहुत-बहुत प्रकार से इच्छा होने पर भी, उनमें से वे मुक्त नहीं हो सकते। उसका क्या कारण है? ऐसा प्रश्न अनेक जीवों को उत्पन्न हुआ करता है, परन्तु उसका यथार्थ समाधान किसी विरल जीव को ही प्राप्त होता है। जब तक दुःख का मूल कारण यथार्थरूप से जानने में न आया हो, तब तक उसे टालने के लिये चाहे जैसा प्रयत्न किया जाये तो भी दुःख का क्षय नहीं हो सकता, और चाहे जितनी अरुचि, अप्रियता और अभाव दुःख के प्रति हो, तथापि उसे अनुभव करना ही पड़ता है।

अवास्तविक उपाय से उन दुःख मिटाने का प्रयत्न किया जाये और वह प्रयत्न न सहन हो सके, इतने परिश्रमपूर्वक किया हो, तथापि वह दुःख न मिटने से दुःख मिटाने के इच्छुक मुमुक्षु को अत्यन्त व्यामोह हो जाता है अथवा हुआ करता है कि इसका क्या कारण है? यह दुःख मिटता क्यों नहीं? किसी भी प्रकार से मुझे इस दुःख की प्राप्ति इच्छित नहीं होने पर भी, स्वप्न में भी इसके प्रति कुछ भी वृत्ति नहीं होने पर भी, उसकी प्राप्ति हुआ करती है और मैं जो-जो प्रयत्न करता हूँ, वे सब निष्फल होने से दुःख का ही अनुभव किया करता हूँ, इसका क्या कारण?

क्या वह दुःख किसी को मिटता ही नहीं होगा? दुःखी होना, यही जीव का स्वभाव होगा? क्या कोई एक जगतकर्ता ईश्वर होगा, उसने ऐसा ही करनेयोग्य गिना होगा? क्या भवितव्यता के आधीन यह बात होगी? अथवा कोई एक मेरे द्वारा किये गये पूर्व अपराधों का फल होगा? इन इत्यादि प्रकार के विकल्प जो जीव मनसहित देहधारी हैं, वह किया करते हैं और जो जीव मनरहित हैं, वे तो अव्यक्तरूप से दुःख का अनुभव करते हैं और अव्यक्तरूप से वह दुःख मिटे, ऐसी इच्छा रखा करते हैं।

इस जगत में प्राणीमात्र की व्यक्त अथवा अव्यक्त इच्छा भी यही है कि किसी भी प्रकार से मुझे दुःख न हो और सर्वथा सुख हों। प्रयत्न भी इसी के लिये है, तथापि वह दुःख किसलिए नहीं मिटता ? —ऐसा प्रश्न बहुत-बहुत विचारवानों को भी भूतकाल में उत्पन्न हुआ था, वर्तमान काल में भी होता है और भविष्य काल में भी होगा। उन अनन्त-अनन्त विचारवानों में से अनन्त विचारवान् उसके यथार्थ समाधान को प्राप्त हुए और दुःख से मुक्त हुए। वर्तमान काल में भी जो-जो विचारवान् यथार्थ समाधान प्राप्त करते हैं, वे भी तथारूप फल को प्राप्त करते हैं और भविष्य काल में भी जो-जो विचारवान् यथार्थ समाधान प्राप्त करेंगे, वे-वे तथारूप फल को प्राप्त करेंगे, इसमें संशय नहीं है।

शरीर का दुःख मात्र औषध करने से मिट जाता हो, मन का दुःख धनादि प्राप्त होने से जाता हो और बाह्य संसर्ग-सम्बन्ध का दुःख मन को कुछ असर उपजा सकता न हो तो दुःख मिटने के लिये जो-जो प्रयत्न किये जाते हैं, वे-वे सर्व जीवों का सफल हो, परन्तु जब ऐसा होता हुआ दिखाई नहीं दिया, तब ही विचारवानों को प्रश्न उत्पन्न हुआ है कि दुःख मिटाने के लिये दूसरा ही उपाय होना चाहिए। यह जो किये जाते हैं, वे उपाय अयथार्थ हैं और समस्त श्रम वृथा है, इसीलिए इस दुःख का मूल कारण यदि यथार्थ जाना जाये तो दुःख मिटे; वरना तो मिटेगा ही नहीं।

जो विचारवान् दुःख का यथार्थ मूल कारण विचारने के लिये उत्कण्ठित होने पर भी कुछ ही उसका यथार्थ समाधान प्राप्त कर सके और बहुत से यथार्थ समाधान नहीं प्राप्त करने पर भी मति व्यामोहादि कारण से समाधान को प्राप्त हुए हैं, ऐसा मानने लगे और तत्प्रमाण उपदेश करने लगे और बहुत लोग उन्हें अनुसरण भी करने लगे। जगत में अलग-अलग धर्म-मत दृष्टिगोचर होते हैं, उनकी उत्पत्ति का मूल कारण यही है।

‘धर्म से दुःख मिटता है’—ऐसी बहुत से विचारवानों की मान्यता हुई, परन्तु धर्म का स्वरूप समझने में एक-दूसरे में बहुत अन्तर पड़ा, बहुत से तो मूल विषय चूक गये और बहुत से तो उस विषय में मति धारणा से अनेक प्रकार से नास्तिकादि परिणामों को प्राप्त हुए।

## दुःख निवृत्ति का सदुपाय

सर्व दुःख का आत्यन्तिक अभाव और परम अव्याबाध, सुख की प्राप्ति, वही 'मोक्ष' है और वही 'परमहित' है। वीतराग सन्मार्ग, उसका 'सदुपाय' है, उस सन्मार्ग का इस प्रकार संक्षिप्त है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता, वह 'मोक्षमार्ग' है। सर्वज्ञ के ज्ञान में भास्यमान तत्त्वों की सम्यक् प्रतीति होना, वह 'सम्यग्दर्शन' है; तत्त्व का सम्यक् बोध होना, वह 'सम्यग्ज्ञान' है; उपादेय तत्त्व का अभ्यास होना, वह 'सम्यक्चारित्र' है। शुद्ध आत्मपदस्वरूप ऐसे वीतराग पद में स्थिति होना, वह इन तीनों की एकता है। सर्वज्ञदेव, निर्ग्रन्थ गुरु और सर्वज्ञोपदिष्ट धर्म की प्रतीति से 'तत्त्व प्रतीति' प्राप्त होती है।

जो धर्म, संसार परिक्षीण करने में सर्वथा उत्तम हो और निज स्वभाव में स्थिति कराने को बलवान हो, वही उत्तम और वही बलवान है।



मुम्बई

विक्रम संवत् १९४८, वैशाख

दुःख की निवृत्ति सर्व जीव चाहते हैं और दुःख की निवृत्ति; दुःख जिससे जन्म पाते हैं—एसे राग-द्वेष और अज्ञानादि दोष की निवृत्ति हुए बिना सम्भव नहीं है। उन रागादि की निवृत्ति एक आत्मज्ञान के अतिरिक्त दूसरे किसी प्रकार से भूतकाल में हुई नहीं, वर्तमान काल में होती नहीं और भविष्य काल में हो सके, ऐसा नहीं है। ऐसा सर्व ज्ञानी पुरुषों को भासित हुआ है, इसलिए वह, आत्मज्ञान के लिये जीव को प्रयोजनरूप है। उसका सर्वश्रेष्ठ उपाय सद्गुरु वचन के श्रवण का या सत्शास्त्र का विचारना है। जो कोई जीव दुःख की निवृत्ति चाहता हो—सर्वथा दुःख से मुक्ति जिसे प्राप्त करना हो, उसे यही एक मार्ग आराधने के अतिरिक्त अन्य दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसलिए जीव को



सर्व प्रकार के मत-मतान्तर का, कुलधर्म का, लोकसंज्ञारूप धर्म का, ओघसंज्ञारूप धर्म का उदासभाव करके एक आत्मविचार कर्तव्यरूप धर्म भजना योग्य है।

एक बड़ी निश्चय की वार्ता तो मुमुक्षु जीव को यही करना योग्य है कि सत्संग जैसा कल्याण का कोई बलवान कारण नहीं है और उस सत्संग में निरन्तर समय-समय निवास चाहना, असत्संग का क्षण-क्षण में विपरिणाम विचारना, वह श्रेयरूप है। बहुत-बहुत करके यह वार्ता अनुभव में लाने योग्य है।

\* \* \*

मुम्बई,

विक्रम संवत् १९५१, फाल्गुन कृष्ण २

सर्व क्लेश से और सर्व दुःख से मुक्त होने का उपाय एक आत्मज्ञान है। विचार बिना आत्मज्ञान होता नहीं और असत्संग तथा असत् प्रसंग से जीव का विचार बल प्रवर्तता नहीं; इसमें किञ्चित्मात्र संशय नहीं है।

\* \* \*

मुम्बई

विक्रम संवत् १९५१, आसोज

सर्व प्रकार से अप्रिय, तथापि जो दुःख का अनुभव करना पड़ता है, वह दुःख सकारण होना चाहिए; उस भूमि से मुख्य करके विचारवान् की विचारश्रेणी उदय को प्राप्त हुई है और उससे अनुक्रम से आत्मा, कर्म, परलोक, मोक्ष आदि भावों का स्वरूप सिद्ध हुआ हो, ऐसा ज्ञात होता है।

वर्तमान में यदि अपना विद्यमानपना है, तो भूतकाल में भी उसका विद्यमानपना होना चाहिए और भविष्य में भी वैसा ही होना चाहिए। इस प्रकार के विचार का आश्रय मुमुक्षु जीव को कर्तव्य है। किसी भी वस्तु का पूर्व-पश्चात् अस्तित्व न हो तो मध्य में उसका अस्तित्व नहीं होता, ऐसा अनुभव विचारने से होता है। वस्तु की केवल उत्पत्ति अथवा केवल नाश नहीं है। सर्व काल उसका अस्तित्व है। रूपान्तर परिणाम हुआ करते

हैं; वस्तुता बदलती नहीं; ऐसा श्री जिनेन्द्र का अभिमत है, वह विचारनेयोग्य है।

\* \* \*

जैसे-जैसे चित्त का शुद्धिपना और स्थिरता होती है, वैसे-वैसे ज्ञानी के वचनों का विचार यथायोग्य हो सकता है। **सर्व ज्ञान का फल भी आत्मस्थिरता होना ही है**, ऐसा वीतराग पुरुषों ने कहा है, जो अत्यन्त सत्य है।

\* \* \*

मुम्बई

**विक्रम संवत् १९५२, कार्तिक शुक्ल १**

सर्व दुःखों से मुक्त होने का सर्वोत्कृष्ट उपाय 'आत्मज्ञान' को कहा है, वह ज्ञानी पुरुषों के वचन सत्य हैं—अत्यन्त सत्य हैं। जब तक जीव को तथारूप आत्मज्ञान न हो, तब तक आत्यन्तिक बन्धन की निवृत्ति नहीं होती, इसमें संशय नहीं है। वह आत्मज्ञान होने तक जीव को 'मूर्तिमान आत्मज्ञानस्वरूप' ऐसे सद्गुरुदेव का निरन्तर आश्रय अवश्य करनेयोग्य है, इसमें संशय नहीं है। इस आश्रय का वियोग हो, तब आश्रय भावना नित्य कर्तव्य है।

**सर्व कार्य में कर्तव्य मात्र आत्मार्थ है**—यह सम्भावना मुमुक्षु जीव को नित्य करनेयोग्य है।

\* \* \*

मुम्बई

**विक्रम संवत् १९५३, अषाढ शुक्ल - ४**

जो जीव शुष्क क्रियाप्रधानपने में मोक्षमार्ग मानते हैं, उन जीवों को तथारूप उपदेश का पोषण भी रहा करता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, ऐसे मोक्षमार्ग चार प्रकार से कहा, तथापि प्रथम के दो पद तो इसे विस्मरण जैसे होते हैं और 'चारित्र' शब्द का अर्थ वेश तथा मात्र बाह्य विरति में समझा जैसा होता है। 'तप' शब्द का अर्थ मात्र उपवासादि व्रत का करना, वह भी बाह्य संज्ञा से—उसमें समझने जैसा होता है, और

क्वचित् ज्ञान-दर्शन पद कहना पड़े तो वहाँ लौकिक कथन जैसे भावों के कथन को ज्ञान और उसकी प्रतीति अथवा वह कहनेवाले की प्रतीति में दर्शन शब्द के अर्थ समझने जैसे रहते हैं।

जीव को अन्दर से अजीर्ण मिटे, तब अमृत भावे; उसी प्रकार भ्रान्तिरूपी अजीर्ण मिटने से कल्याण हो। परन्तु जीव को अज्ञानी गुरु ने भड़का दिया है, इसलिए भ्रान्तिरूप अजीर्ण कैसे मिटे? अज्ञानी गुरु ज्ञान के बदले तप बताते हैं, इस प्रकार उल्टा-उल्टा बतावे, इसलिए जीव को तिरना बहुत मुसीबतवाला है।

—श्रीमद् राजचन्द्र

तीसरी गाथा में कहते हैं कि मोक्ष का मार्ग कैसे बहुत लोप हो गया दृष्टिगोचर होता है? कारण यह है कि लोग मन-वचन-काया की क्रिया में धर्म मानते हैं, उससे मोक्षमार्ग मानते हैं; परन्तु आत्मा ज्ञानस्वरूपी, अरूपी है और यह देहादि की क्रिया जड़ है। आत्मा पर से भिन्न है, उसकी रुचि बिना, भान बिना, अनन्त काल से आत्मधर्म के नाम से दूसरा किया है। अनन्त बार यम, नियम, जप, तप, ध्यान, पुष्कल किये हैं। शुभपरिणाम भी आत्मा का धर्म नहीं, क्योंकि शुभपरिणाम तो राग है और आत्मा अरागी है। विजातीय कारण से सजातीय कार्य होगा? होगा ही नहीं। जिस भाव से बन्ध हो, उस कारण से छुटकारा नहीं होता। जो कारण बन्धन का हो, उस कारण से पवित्रता—मुक्तदशा कैसे होगी?

अमुक लोग—बहिर्दृष्टि जीव कहते हैं कि ' भगवान ने क्रिया बतायी, उसका यह अध्यात्म की बातें करनेवाले उच्छेद करते हैं, इसलिए आत्मसिद्धि शास्त्र को मानना, वह अन्ध श्रद्धा है। क्या अकेला आत्मा... आत्मा... करने से धर्म हो जायेगा? इसलिए अपने को क्रिया करना चाहिए। अब विचारवान्-विवेकी हो, वह तुलना करता है कि आत्मा का गुण अरूपी ज्ञान-चैतन्य है, वह ज्ञाता—ज्ञायक ही है, ज्ञानरूप से जानना, वही उसकी—आत्मा की क्रिया है। ज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी किया हो तो कोई बताओ। ज्ञानी कहते हैं कि आत्मा में ही आत्मा का निश्चय-व्यवहार है; जड़ में नहीं।

अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक स्वर्ग में आत्मज्ञान बिना जानेवाले भव्य जीव और

अभव्य जीव हैं, परन्तु तप, व्रत, शुक्ललेश्या (उज्ज्वल परिणाम) द्वारा करते हैं। परन्तु आत्मा के अभान में जो पुण्य बँधता है, उसके फलरूप अहमिन्द्रदेव अनन्त बार हो और असंख्य अरब वर्ष का आयुष्य भी भोगे, तथापि आत्मा को क्या लाभ? कुछ भी नहीं। वहाँ हीरा-माणिक, देवियाँ देखकर, आसक्ति पाकर, वहाँ का आयुष्य पूर्ण करके एकेन्द्रिय में, पशु में भटक मरेगा, क्योंकि आत्मा को नहीं जाना है।

कोई कहे दया से, पुण्य से धर्म होता है। परन्तु ऐसी दया अनन्त बार पालन की है। राग आत्मा का गुण नहीं, सहायक भी नहीं, यह बात अभी जँची नहीं। शास्त्र में अनेक जगह कहा है कि एक-एक जीव आत्मा के नाम से ही करनी करके अनन्त बार नौ ग्रैवेयक तक भी गया है। लोगों को बाहर से देखने की दृष्टि होने से पर का माहात्म्य लगता है, जड़ की क्रिया जो चैतन्य के हाथ नहीं, उसका अज्ञान, अभिमान करने की हाँ करता है। और कहता है कि जानने से क्या? कुछ करेंगे तो पायेंगे, उसके आधार में 'ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्ष' यह वाक्य बोलता है कि बस, हम ज्ञान-क्रिया साथ में करते हैं। परन्तु चैतन्य की क्रिया क्या है, उसकी कुछ खबर नहीं, तथापि आग्रह रखता है, यह उसकी जड़ता है। अनन्त भव में भटकने का मूल कारण विपरीत मान्यता है। पुण्य में और जड़ क्रिया में मोक्षमार्ग मानता है, उसे क्रियाजड़ कहा है।

दूसरा वर्ग शुष्क ज्ञानी का है। स्वच्छन्द से—विवेकरहित—शास्त्र के शब्द धार रखता है कि आत्मा सिद्ध परमात्मा जैसा है, अकर्ता-अभोक्ता है। परन्तु इसका मेल-विचार नहीं करता और मात्र पण्डिताई की बातें करके अपने को ज्ञानीपना है, ऐसा मानता है और अन्तरंग में वैराग्य, उपशम नहीं है; क्रोध, मान, माया, लोभ मोहभाव टालने का पुरुषार्थ नहीं है, अशुभपरिणामों का त्याग नहीं, मान-अपमान, राग-द्वेष की न्यूनता नहीं और आत्मा वीतराग है, ऐसा कहा करना, वह क्या योग्य है? ऐसे जीव, विषय-भोग में तीव्र लोलुपता और तृष्णापूर्वक वर्तते हैं, उन्हें आत्मा—चैतन्य प्रभु की जागृति का प्रेम नहीं, आदर नहीं।

शुष्क ज्ञानी मात्र बातें करे, शास्त्र पढ़े परन्तु उससे आत्मा को क्या? आत्मा एक

अपेक्षा से अर्थात् शुद्ध द्रव्यदृष्टि से शुद्ध है। उसके बदले एकान्तिक निश्चय पकड़कर कहता है कि आत्मा सिद्ध जैसा है। वह ज्ञानी के वचन के और अपने अकषायी आत्मा के साथ अन्याय कर रहा है, इसकी उसे खबर नहीं। और कर्म के उदय अनुसार रागादि होने का मानकर उदय... उदय... किया करता है। प्रारब्ध में होगा, वैसा होगा, ऐसे संयोग को देखता है परन्तु आत्मा का क्या होता है, उसकी सम्हाल तो करता नहीं।

और जरा सी प्रतिकूलता अथवा अपमान हो तो कलेजा काँप उठता है, परन्तु भाई! तू कहता था कि आत्मा सिद्ध परमात्मा जैसा है, राग-द्वेषरहित है। ऐसा क्यों! कुछ प्रतिकूलता होवे तो द्वेष—अरुचि और सुविधा मिले तो राग; कोई खुशामद करे, महिमा करे तो प्रसन्न और निन्दा करे तो द्वेषी; उसमें आत्मा मन, वाणी और देह से भिन्न है, ऐसा शुद्ध श्रद्धा का भाव कहाँ आया? इसलिए शुष्क ज्ञानी भी भवसमुद्र में डूबेगा।

ज्ञानी के अन्तर में कितना वैराग्य होता है, कितनी निर्मलता होती है, भोगों के अनासक्ति होती है, नम्रता और विवेक होता है! अज्ञानी मोही जीव अनाचार सेवन करता है और कहता है कि मेरा पुरुषार्थ निर्बल है, वह चारित्रमोह का दोष है, और कर्मोदय के बहाने बताता है कि शास्त्र में ऐसा लिखा है कि चक्रवर्ती राजा को ९६ हजार स्त्रियाँ थीं, तथापि ज्ञानी थे, अनासक्त थे; इसी प्रकार मैं भी अनासक्ति से पुण्य के उदय को भोगता हूँ। इस प्रकार पर के उद्धरण बताकर निर्मोही के सहारे 'ज्ञानी हूँ', ऐसा मान लेता है, तो वह अनन्त ज्ञानी की असातना है। धर्मात्मा को अल्प स्थिरता हो जाती है, राग-द्वेष हो जाते हैं तथापि अपना वैराग्य बढ़ाता है और आत्मनिन्दा करता है, परन्तु उसे असत् का आग्रह नहीं होता। वह निर्मानी, विवेकी, सन्तोषी होता है, परन्तु कोई स्वच्छन्द करे, नीति तजकर शास्त्र पढ़े और उसका अभिमान करे तो वह क्या प्राप्त करेगा? कोई शरीर से शास्त्र का भार उठावे, तो कोई कण्ठ से, और कोई मन द्वारा धारण करे, परन्तु उसके मान, रागादि कषाय छूटे नहीं तो उसे मुमुक्षुपना संभवित नहीं है। उसे तो संसार की ममता, पुण्य आदि की महिमा है, आग्रह बुद्धि है।

आत्मसिद्धि प्रवचन





### समदर्शी के सम्बन्ध में स्पष्टता

समदर्शीपना अर्थात् लौकिकभाव का समान भाव, अभेद भाव, एक सरीखी बुद्धि, निर्विशेषपना नहीं; अर्थात् काँच और हीरा इन दोनों को समान गिनना अथवा सत्श्रुत और असत्श्रुत में समानता गिनना, अथवा सद्धर्म और असद्धर्म में अभेद मानना अथवा असद्गुरु और सद्गुरु में समान बुद्धि रखना अथवा सद्देव और असद्देव में निर्विशेषपना दर्शाना अर्थात् दोनों को एक समान गिनना—इत्यादि समस्त वृत्ति, वह समदर्शिता नहीं है, वह तो आत्मा की मूढ़ता, विवेकशून्यता, विवेकविकलता है।

समदर्शी सत् को सत् जानता है, बोधता है; असत् को असत् जानता है, निषेधता है; सत्श्रुत को सत्श्रुत जानता है, बोधता है; कुश्रुत को कुश्रुत जानता है, निषेधता है; सद्धर्म को सद्धर्म जानता है, बोधता है; असद्धर्म को असद्धर्म जानता है, निषेधता है; सद्गुरु को सद्गुरु जानता है, बोधता है; असद्गुरु को असद्गुरु जानता है, निषेधता है; सद्देव को सद्देव जानता है, बोधता है; असद्देव को असद्देव जानता है, निषेधता है—इत्यादि जो जैसा हो, उसे वैसा देखे, जाने—प्ररूपित करे; उसमें राग-द्वेष, इष्ट-अनिष्ट बुद्धि न करे, इस प्रकार समदर्शीपना समझना। ॐ

—श्रीमद् राजचन्द्र

समदर्शिता अर्थात् ऐसा नहीं कि खोटे को खोटा न कहे, परन्तु सत्य-असत्य का विवेक करे। खोटे का निषेध करे, हित-अहित भलीभाँति जाने और जैसा है, वैसा कहे, उसमें समदर्शिता है, उसमें राग-द्वेष नहीं है।

लोग अनादि काल से ज्ञानी का विरोध करते आये हैं। वे चाहे जैसा कहें, उसकी ज्ञानी को पड़ी नहीं है। लोग उल्टे न्याय (कुतर्क) के साथ सच्चे न्याय-धर्म का समन्वय करते हैं, वह विपरीत दृष्टि है।

सच्चा और झूठा त्रिकाल में एक नहीं हो सकते। जिसकी बुद्धि पक्षपातवाली है, उसके शास्त्र में उसके कथन में दोष होते ही हैं। परन्तु ज्ञानी यथार्थरूप से निर्बाध न्याय से

वस्तु का स्वरूप जैसा है, वैसा जानते हैं और कहते हैं ।

कोई कहे कि दृष्टि विष जाने के बाद सभी समान दिखता है ( तो ) यह बात मिथ्या है । ज्ञानी सत्य-असत्य, जहर-अमृत, परभाव-स्वभाव, अकषाय-कषाय को समान नहीं मानता, परन्तु जैसा है, वैसा मानता है, कहता है । असत्य का निषेध करता है । कुज्ञानी सत्य को नहीं पहिचानने के कारण ज्ञान का, सत्य का निषेध करता है ।

सद्गुरु के लक्षण में प्रथम लक्षण आत्मज्ञान और दूसरा लक्षण समदर्शिता कहा है । तीसरा लक्षण इच्छा—कामना बिना पूर्व कर्म के उदयानुसार शरीरादि योग का विचरना तथा सहजस्वरूपस्थित दशा में आत्मा का स्थित रहना और चौथा लक्षण अपूर्व वाणी कही है । अज्ञानी की वाणी की अपेक्षा आत्मस्वरूप के ज्ञाता और अक्रिय अर्थात् देहादि, रागादि, पुण्यादि में कर्तृत्व मानकर नहीं अटकनेवाले निर्मल ज्ञानस्वरूप में रमण करनेवाले ज्ञानी की वाणी प्रत्यक्ष अलग होती है ; इसलिए उसे अपूर्व कहा है । अज्ञानी की वाणी में परभाव का स्थापन होता है, जबकि ज्ञानी की वाणी में अविरोध, अनेक न्यायसहित स्याद्वाद-सापेक्षपना होता है, निर्दोषता होती है ।

समदर्शीपना ऐसा नहीं होता कि सत्य-असत्य, माँस और दूध—रोटियाँ सब समान जाने । माँस और रोटियाँ इत्यादि की अवस्था को जैसा है, वैसा विवेक से जाने; स्त्री-पुरुष, माता-पत्नी जैसा है, उसरूप से जाने, परन्तु अन्यथा न माने । मिथ्या मान्यतावाले को मिथ्या माने ( -जाने ) ऐसे बलवान विवेकवान समदर्शी धर्मात्मा होते हैं । ( सर्व ) ' जीव हैं सिद्ध समान ' अर्थात् सभी आत्मायें द्रव्यस्वभाव से शुद्ध हैं, ऐसा माने परन्तु वर्तमान अवस्था से शुद्ध है, ऐसा न माने । कोई जीव राग-द्वेषी और मूर्ख हो, उसे ज्ञानी सिद्ध भगवान जैसा न जाने, परन्तु उसकी प्रकृति अज्ञानमय जाने; क्रोध-मान इत्यादि कषाय जैसे हो जैसे, उसके अवगुण की अवस्था को जाने परन्तु किसी का तिरस्कार न करे । मिथ्या को मिथ्या कहना, इसमें द्वेष नहीं है, परन्तु जैसा है, वैसा मानना, इसमें ही समदर्शिता अर्थात् समभाव है परन्तु राग-द्वेष, मान-अपमान समान मान लेना, वह समभाव नहीं है ।

आत्मा का स्वभाव जानना-देखना है। जानने में दोष नहीं। ज्ञानी ज्ञेयपदार्थ और उसकी अवस्था को जैसा है, वैसा यथार्थ जानते हैं, परन्तु उसकी किसी अवस्था को इष्ट-अनिष्ट नहीं मानते और किसी के प्रति एकमेकपना, राग-द्वेष-ममतावाली बुद्धि नहीं करते। अज्ञानी परपदार्थ में राग-द्वेष-ममता करता ही है।

कोई मानता है कि आत्मा का अनन्त ज्ञान खिल जाये तो जगत में भेद न देखे, सबको सिद्ध समान देखे। कारण में कहता है कि यदि भेद देखे तो उसकी दृष्टि में द्वैतपना आता है, तो ऐसी मान्यता दोषवाली है।

सत्श्रुत और असत्श्रुत को समान मानना, वह भी महामूढ़ता है। सर्वज्ञ के अविरोधी सम्यक् शास्त्रों के साथ आत्मा की भूल करानेवाले असत् शास्त्रों को समन्वय / समानता तीन काल में नहीं हो सकती।

और कोई मानता है कि अपने को भेद नहीं करना, क्योंकि उससे राग-द्वेष होते हैं; अपने को तो सभी धर्म, सभी धर्मगुरु समान हैं क्योंकि सब ही आत्मा के लिये करते हैं न! क्या भावनगर का एक ही रास्ता है? चाहे जिस रास्ते से जाया जाता है, तो ऐसा माननेवाले मूर्ख हैं, अज्ञानी हैं। भावनगर की सच्ची पहिचान बिना अन्य मार्ग को सच्चा मार्ग माननेवाले अपने छोटे भाव से सच्चे हैं, परन्तु उन्हें साध्य की प्राप्ति नहीं होगी। अनन्त काल से जीव आत्मा के नाम से, आत्मार्थ मानकर बहुत करते हैं। परन्तु पहिचान बिना स्वच्छन्द से जायेंगे कहाँ? जहाँ सर्वज्ञ की पहिचान नहीं, सच्चे गुरु और सत्शास्त्र के प्रामाणिकता की खबर नहीं, वह समदर्शी नहीं परन्तु निश्चितरूप से मूर्ख है।

और कोई कहे कि अपने तो गुणग्राही हैं, अपनी दृष्टि में बैर-जहर नहीं है, अपने को तो जहाँ से मिले, वहाँ से लेना। परन्तु जहाँ हित-अहित का विवेक नहीं, सत्य-असत्य की परीक्षा नहीं, उसका गुणग्राहीपना कभी भी सच्चा नहीं है।

और लोग मानते हैं कि हम धर्मशास्त्र वाँचते हैं, सुनते हैं तो कान पवित्र होते हैं, देह पवित्र होती है—इत्यादि प्रकार से पर से लाभ-नुकसान माननेवाले भी पर से पृथक्ता का विवेक रहित होने से गुड़ और खल समान गिनकर खिंचड़ा करते हैं। सच्चे-झूठे का

विवेक न जाने, उसका विश्वास कौन करे ? अक्रिय क्या ? ज्ञाता क्या ? पुण्य-पापरूप आस्रव क्या ! स्वाधीनता क्या ? इसके भान बिना उसका करना, वह समस्त अन्ध दौड़ है । ज्ञानी अथवा अज्ञानी कोई भी हो, वे जड़ वस्तु की कोई क्रिया कर सकते ही नहीं, मात्र ज्ञान करे या अज्ञान करे, अर्थात् कि मिथ्या मान्यता करे, वह उसका सामर्थ्य है । जड़ देहादि, जगत की स्वतन्त्र वस्तु है, उसमें अनन्त शक्ति उससे है; उसकी क्रिया होने में आत्मा का सामर्थ्य नहीं है ।

जिसके राग-द्वेष अज्ञान सर्वथा टल गये हैं, ऐसे वीतराग जिनेश्वर सर्वज्ञदेव, तीर्थंकर आदि का प्ररूपित न्यायधर्म—लोकोत्तर मार्ग पहिचाने बिना बहुत लोग धर्म-उपदेशकरूप वेशधारी होकर सभी धर्मों का समन्वय करते हैं । कुजात और सजात (लौकिक अज्ञानमय मार्ग और अलौकिक सन्मार्गरूप मार्ग, अपूर्व धर्म) का समन्वय करते हैं । आलपाक के रेशमी के वस्त्र के साथ कनतान सांधकर मिलाकर कहते हैं कि दोनों समान हैं, उसी प्रकार स्वच्छन्द से अपनी मति-कल्पना से सर्वज्ञ परमात्मा के न्यायमार्ग को अल्पज्ञ जीव दूसरे लौकिक धर्म के साथ समानता करते हैं । कहाँ आगिया पंतगिया का तेज और कहाँ सूर्य का तेज ! ऐसा समन्वय करनेवाले सूर्य को ढाँकने का प्रयत्न करे, ऐसे हैं । अर्थात् वे सब आत्मज्ञान से अनजान हैं, समदर्शी नहीं ।

— श्री आत्मसिद्धि प्रवचन

### अविरत ( अविरति ) सम्यग्दृष्टि की स्वरूप स्थिरता

यदि चौथे गुणस्थान में स्वरूप परिणति आंशिक भी न हो तो मिथ्यात्व जाने का फल क्या हुआ ? कुछ भी नहीं हुआ । जो मिथ्यात्व गया, वही आत्मस्वभाव का प्रगत होनापना है और वही स्वरूप स्थिति है । यदि सम्यक्त्व से तथारूप स्वरूप परिणति न हो तो श्री श्रेणिक आदि को एकावतारीपना कैसे प्राप्त हो ! एक भी वहाँ व्रत-तप-प्रत्याख्यान नहीं और मात्र एक ही भव बाकी रहा, ऐसा अल्प संसारीपना हुआ, वही स्वरूप स्थितिरूप समकित का बल है ।

— श्रीमद् राजचन्द्र



## गाथा १७वीं के

परमार्थ के सम्बन्ध में लिखते हैं कि :—

**सत्स्वरूप को अभेदभाव से और अनन्य भक्ति से नमोनमः**

भाव अप्रतिबद्धता से निरन्तर विचरते हैं, ऐसे ज्ञानी पुरुषों की आज्ञा की तथा उनके विचार की सम्यक् प्रतीति आये बिना तथा उसमें अचल स्नेह हुए बिना स्वस्वरूप के विचार की यथार्थ प्राप्ति नहीं होती और वैसी दशा आने से उसके चरणारविन्द जिसने सेवन किये हैं, वह पुरुष वैसी दशा को क्रमशः प्राप्त करता है। यह मार्ग आराधे बिना जीव ने अनादि काल से परिभ्रमण किया है।

जब तक जीव को स्वच्छन्द से अन्धत्व है, तब तक इस मार्ग का दर्शन नहीं होता। वह अन्धत्व टालने के लिये जीव को इस मार्ग का विचार करना चाहिए; दृढ़ मोहेच्छा करनी, इस विचार में अप्रमत्त रहना; तो मार्ग की प्राप्ति होकर अन्धत्व टलता है, यह निशंक मानना। अनादि काल से जीव उल्टे मार्ग में चला है। यद्यपि उसने जप, तप, शास्त्राध्ययन इत्यादि अनन्त बार किये हैं, तथापि जो कुछ अवश्य करनेयोग्य था, वह इसने नहीं किया। जो कि हमने प्रथम ही बतलाया है।

ऋषभदेवजी भगवान ने जहाँ ९८ पुत्रों को उपदेशित किया है—मोक्षमार्ग में चढ़ाया है, वहाँ ऐसा उपदेश किया है:—

हे आयुष्मनो! इस जीव ने सर्व किया है, एक इसके बिना, वह क्या? तो कि निश्चय कहते हैं कि सत्पुरुष का कहा हुआ वचन, उसका उपदेश, उसे सुना नहीं; अथवा भले प्रकार से उठाया नहीं; और उसे ही हमने मुनियों की सामायिक (आत्मस्वरूप की प्राप्ति) कहा है।





प्रत्यक्ष सद्गुरु-योग में, रखता दृष्टि विमुख ।

असद्गुरु को दृढ़ करे, निज-मान-हेतु मुख्य ॥२६ ॥

ज्ञानी पुरुष की पहिचान नहीं होने में प्रायः जीव के तीन बड़े दोष जानते हैं:—

एक तो 'मैं जानता हूँ', 'मैं समझता हूँ'—इस प्रकार का मान जीव को रहा करता है, वह मान;

दूसरा, परिग्रहादि के सम्बन्ध में, ज्ञानी पुरुष के प्रति राग की अपेक्षा भी विशेष राग ।

तीसरा, लोक भय के कारण, अपकीर्ति भय के कारण और अपमान भय के कारण ज्ञानी से विमुख रहना—उनके प्रति जैसा विनयान्वित होना चाहिए, वैसा न होना—ये तीन कारण जीव को ज्ञान से अनजान रखते हैं ।

ज्ञानी के सम्बन्ध में अपने समान कल्पना रहा करती है, अपनी कल्पना प्रमाण ज्ञानी के विचार का—शास्त्र का तोलन किया जाता है, थोड़ा भी ग्रन्थ सम्बन्धी वाँचनादि ज्ञान प्राप्त होने से बहुत प्रकार से उसे दर्शाने की जीव को इच्छा रहा करती है । यह इत्यादि जो दोष है, वह ऊपर बतलाये ऐसे जो तीन, उनमें समाहित होते हैं । और उन तीन दोषों का उपादानकारण ऐसा तो एक 'स्वच्छन्द' नाम का महादोष है और उसका निमित्त कारण असत्संग है... यह इत्यादि जो दोष, वह ध्यान, ज्ञान, इन सर्व का कारण जो ज्ञानी पुरुष और उनकी आज्ञा को अनुसरना, उसे आड़े आते हैं ।



## भेदज्ञान

जड़ अरु चैतन्य दोनों, द्रव्य का स्वभाव भिन्न,  
सुप्रतीतिरूप दोनों, जिसे समझाय है;  
स्वरूप चैतन्य निज, जड़ है सम्बन्धमात्र,  
अथवा वह ज्ञेय के भी परद्रव्यमाय है;  
ऐसा अनुभव का प्रकाशित उल्लसित हुआ,  
जड़ से उदासी उसे आत्मवृत्ति होय है;  
काया की विसारि माया, स्वरूप में समाये ऐसे,  
निर्ग्रन्थ का पंथ भव अन्त का उपाय है ॥१॥

देह-जीव एकरूप भासित अज्ञान से,  
क्रिया की प्रवृत्ति भी इससे वैसी होय है;  
जीव की उत्पत्ति अरु रोग शोक दुःख मृत्यु,  
देह का स्वभाव जीव, पद में जणाय है;  
ऐसा जो अनादि एकरूप का मिथ्यात्व भाव,  
ज्ञानी के वचन द्वारा दूर हो जाय है;  
भासे जड़ चैतन्य का प्रगट स्वभाव भिन्न,  
दोनों द्रव्य निज-निज रूप स्थित होय है ॥२॥

\* \* \*

देह मात्र संयोग है, अरु जड़ रूपी दृश्य।

चेतन के उत्पाद-व्यय, किसके अनुभव वश्य ? ॥६२॥

आशंका—जीव का स्वरूप अविनाशी अर्थात् नित्य, त्रिकाल रहनेवाला सम्भवित नहीं; देह के योग से अर्थात् देह के जन्म के साथ वह जन्मता है और देह के वियोग से अर्थात् देह के नाश से वह नाश पाता है।

समाधान—देह है, वह जीव को मात्र संयोग सम्बन्ध है, परन्तु जीव का मूल

स्वरूप उत्पन्न होने का कहीं वह कारण नहीं है। अथवा देह है, वह मात्र संयोग से उत्पन्न हुआ ऐसा पदार्थ है और वह जड़ है, इसलिए किसी को जानता नहीं; अपने को वह जानता नहीं तो दूसरे को क्या जाने? और देह रूपी है, स्थूलादि स्वभाववाला है और चक्षु का विषय है। इस प्रकार देह का स्वरूप है तो वह चेतन की उत्पत्ति और व्यय को किस प्रकार जाने? अर्थात् वह अपने को जानता नहीं तो 'मुझसे यह चेतन उत्पन्न हुआ है'—ऐसा कैसे जाने? और 'मेरे छूट जाने के बाद यह चेतन छूट जायेगा अर्थात् नाश पायेगा', ऐसा जड़ देह किस प्रकार जाने? क्योंकि जाननेवाला पदार्थ तो जाननेवाला ही रहता है। देह जाननेवाला नहीं हो सकता तो फिर चेतन की उत्पत्ति—लय का अनुभव किसके वश कहना?

देह के वश तो कहा जाये ऐसा है ही नहीं, क्योंकि वह प्रत्यक्ष जड़ है और उसका जड़पना जाननेवाला ऐसा उससे भिन्न दूसरा पदार्थ भी समझ में आता है।

यदि ऐसा कहें कि चेतन की उत्पत्ति-लय को चेतन जानता है तो वह बात तो बोलते ही विघ्न पाती है। क्योंकि चेतन की उत्पत्ति-लय जाननेवाले रूप से चेतन का ही अंगीकार करना पड़ा। अर्थात् वह वचन तो मात्र अपसिद्धान्तरूप और कहनेमात्र हुआ। जैसे 'मेरे मुख में जीभ नहीं' ऐसा वचन कोई कहे, उसी प्रकार चेतन की उत्पत्ति-लय चेतन जानता है। इसलिए चेतन नित्य नहीं, ऐसा कहें, वह ऐसा प्रमाण हुआ। उस प्रमाण का कैसा यथार्थपना है कि, वह तुम ही विचारकर देखो।



**देहादिक संयोग सब, अनुभव से हों दृश्य।**

**उपजे नहिं संयोग से, आत्मा नित्य प्रत्यक्ष ॥६४॥**

जो-जो देहादि संयोग दृष्टिगोचर होते हैं, वे-वे अनुभवस्वरूप ऐसे आत्मा के दृश्य हैं, अर्थात् आत्मा उन्हें देखता है और जानता है, ऐसा वह पदार्थ है। उन सब संयोगों का विचार करके देखो तो किसी भी संयोग से अनुभवस्वरूप ऐसा आत्मा उत्पन्न हो सकनेयोग्य तुमको ज्ञात नहीं होगा।

कोई भी संयोग तुमको जानते नहीं और तुम उन सर्व संयोगों को जानते हो, यही तुम्हारा उनसे पृथक्ता और असंयोगीपना, अर्थात् उन संयोगों से उत्पन्न नहीं होनापना सहज सिद्ध होता है और अनुभव में आता है। इसलिए किसी भी संयोग से जिसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, किसी भी संयोगों से जिसकी उत्पत्ति के लिये अनुभव में नहीं आ सकते, जो संयोग मानते हैं, इससे वह अनुभव न्यारा का न्यारा ही मात्र उसे जाननेवाले रूप ही रहता है, उस अनुभवस्वरूप आत्मा को तुम नित्य और अस्पृश्य अर्थात् उन संयोगों के भावरूप निष्कर्ष को प्राप्त नहीं हुआ, ऐसा जानो।

नडियाद, आसोज कृष्ण २, संवत् १९५२



**कोई भी संयोग से, कभी नहीं उपजाय।**

**नाश न होता किसी में, इससे नित्य सदाय ॥६६ ॥**

किन्हीं भी संयोगों से जो उत्पन्न न हुआ हो अर्थात् अपने स्वभाव से जो पदार्थ सिद्ध हो, उसका लय / व्यय दूसरे किसी भी पदार्थ में नहीं होता; और यदि दूसरे पदार्थ में उसका लय होता हो तो उसमें से उसकी प्रथम उत्पत्ति होना चाहिए थी, नहीं तो उसमें उसकी लयरूप ऐक्यता नहीं होगी, इसलिए आत्मा अनुत्पन्न और अविनाशी जानकर नित्य है ऐसी प्रतीति करना योग्य लगेगी।

चेतन की उत्पत्ति में कुछ भी संयोग दिखाई नहीं देते, इससे चैतन्य अनुत्पन्न है। वह चेतन विनाश पाने का कुछ भी अनुभव नहीं होता, इसलिए अविनाशी है। नित्य अनुभव स्वरूप होने से नित्य है।

समय-समय में परिणामान्तर होने से अनित्य है। स्वरूप का त्याग करने के अयोग्य होने से मूलद्रव्य है।

❖ जो चेतन है, वह कभी अचेतन नहीं होता; जो अचेतन है, वह कभी चेतन नहीं होता।

**क्रोधादिक तरतम्यता, सर्पादिक में होय।**

**पूर्व-जन्म-संस्कार यह, जीव-नित्यता सोय ॥६७॥**

सर्प में जन्म से क्रोध की विशेषता दिखाई देती है। कबूतर को जन्म से ही निरहिंसकपना दृष्टिगोचर होता है, खटमल आदि जन्तुओं को पकड़ने पर उन्हें पकड़ने से दुःख होता है, ऐसी भय संज्ञा प्रथम से उनके अनुभव में रही है, इसलिए वे वहाँ से जाने का प्रयत्न करते हैं। किसी प्राणी में जन्म से प्रीति का, किसी में समता का, किसी में विशेष निर्भयता का, किसी में गम्भीरता का, किसी में विशेष भय संज्ञा का, किसी में कामादि के प्रति असंज्ञता का और किसी में आहारादि में अधिक-अधिक लुब्धपना-विशेषपना दृष्टिगोचर होता है; यह आदि भेद अर्थात् क्रोधादि संज्ञा के न्यूनाधिकपने आदि से तथा वे-वे प्रकृतियाँ जन्म से सहचारीरूप से रही दृष्टिगोचर होती है, इसलिए उनका कारण पूर्व के संस्कार ही सम्भव हैं।

कदाचित् ऐसा कहे कि गर्भ में वीर्य-रेत के गुण के योग से उस-उस प्रकार के गुण उत्पन्न होते हैं, परन्तु उसमें पूर्व जन्म कुछ कारणभूत नहीं। (तो) यह कहना भी यथार्थ नहीं है। जो माता-पिता काम के विषय में विशेष प्रीतिवाले दिखाई देते हैं, उनके पुत्र परम वीतराग जैसे बालपन से ही दृष्टिगोचर होते हैं; और जिन माता-पिताओं में क्रोध की विशेषता दिखाई देती है, उनकी सन्तति में समता की विशेषता दृष्टिगोचर होती है, वह किस प्रकार होती है? और वे वीर्य-रेत के वैसे गुण सम्भवित नहीं, क्योंकि वह वीर्य-रेत स्वयं चेतन नहीं, उसमें चेतन संचरित है, इसलिए देह धारण करता है, इससे वीर्य-रेत के आश्रय से क्रोधादि भाव नहीं गिने जा सकते, चेतन बिना किसी भी स्थल में वैसे भाव अनुभव में नहीं आते। मात्र वह चेतनाश्रित है। इसलिए वीर्य-रेत के गुण नहीं; जिससे उसके न्यूनाधिक से क्रोधादिक का न्यूनाधिकपना मुख्यरूप से हो सकनेयोग्य नहीं है, चेतन के कम-अधिक प्रयोग से क्रोधादिक का न्यूनाधिकपना होता है, जिससे गर्भ के वीर्य-रेत का गुण नहीं है, परन्तु चेतन का उस गुण के आश्रय से है और वह न्यूनाधिकता वह चेतन के पूर्व के अभ्यास से ही सम्भवित है। क्योंकि कारण बिना कार्य



की उत्पत्ति नहीं होती। चेतन का पूर्व प्रयोग तथाप्रकार से हो, तो वे संस्कार वर्तते हैं, जिससे यह देहादि प्रथम के संस्कारों का अनुभव होता है और वे संस्कार पूर्व जन्म सिद्ध करते हैं और पूर्व जन्म की सिद्धि से आत्मा की नित्यता सहज सिद्ध होती है।\*



**कर्ता ईश्वर कोई नहीं, ईश्वर शुद्ध स्वभाव।**

**अथवा प्रेरक मानें तो, ईश्वर दोष-प्रभाव ॥७७॥**

अब तुमने अनायास से वे कर्म होते हों, ऐसा कहा, वह विचारते हैं; अनायास अर्थात् क्या? (१) आत्मा ने नहीं चिन्तवन किया हुआ? (२) अथवा आत्मा का कुछ भी कर्तृत्व तथापि प्रवर्तित नहीं? (३) अथवा ईश्वरादि कोई कर्म लगा दे, इससे हुआ? (४) अथवा प्रकृति की बलजोरी से लगे, इससे हुआ? ऐसे मुख्य चार विकल्प से अनायास कर्तापना विचारनेयोग्य है।

प्रथम विकल्प आत्मा ने नहीं चिन्तवन किया हुआ, ऐसा है। यदि ऐसा होता तो तब तो कर्म का ग्राह्यपना रहता ही नहीं और जब तक ग्राह्यपना रहे नहीं, वहाँ कर्म का होनापना भी सम्भवित नहीं, और जीव तो प्रत्यक्ष चिन्तवन करता है और ग्रहणाग्रहण करता है, ऐसा अनुभव होता है। जिसमें यह किसी भी प्रकार से प्रवर्तता ही नहीं, ऐसे क्रोधादि भाव उसे सम्प्राप्त होते ही नहीं; इसलिए ऐसा ज्ञात होता है कि नहीं चिन्तित अथवा आत्मा से नहीं प्रवर्तित ऐसे कर्मों का ग्रहण उसे होना योग्य नहीं है। इसलिए इन दोनों प्रकार से अनायास कर्म का ग्रहण सिद्ध होता है।

दूसरा प्रकार—ईश्वरादि कोई कर्म लगा दे, इसलिए अनायास कर्म का ग्रहण होता है, ऐसा कहें तो वह घटित नहीं होता। प्रथम तो ईश्वर का ही स्वरूप निर्धारित करना पड़ता है और यह प्रसंग भी विशेष समझने योग्य है, तथापि यहाँ ईश्वर या विष्णु आदि

---

\* विशेष जानने के लिये देखें, श्रीमद् राजचन्द्र पत्रांक ४० (३, ५५६, चतुर्थ आवृत्ति; ५२-ए, ४६२, द्वितीय आवृत्ति, पृष्ठ १०८, २८७, पाँचवीं आवृत्ति)

कर्ता का किस प्रकार से स्वीकार कर सकते हैं और उस पर विचार करते हैं। यदि ईश्वर आदि कर्म के लगानेवाले हों, तब तो जीव नाम का बीच में कोई भी पदार्थ रहा नहीं, क्योंकि प्रेरणादि धर्म कहकर उसका अस्तित्व समझ में आता था, वे प्रेरणादि तो ईश्वरकृत सिद्ध हुए, अथवा ईश्वर के गुण सिद्ध हुए तो फिर बाकी जीव का स्वरूप क्या रहा कि जिसे जीव अर्थात् आत्मा कहें? इसलिए कर्म ईश्वर प्रेरित नहीं परन्तु आत्मा के अपने ही किये हुए होना योग्य है।

प्रश्न १— ईश्वर क्या है? वह जगतकर्ता है?

उत्तर १—हम-तुम कर्मबन्धन में वश रहे जीव हैं; उस जीव का सहज स्वरूप अर्थात् कर्मरहितपने एकमात्र आत्मत्वपने—जो स्वरूप है, वह ईश्वरपना है। जिसके ज्ञानादि ऐश्वर्य है, वह ईश्वर कहनेयोग्य है और ईश्वरता आत्मा का सहजस्वरूप है। जो स्वरूप कर्मप्रसंग से ज्ञात नहीं होता, परन्तु वह प्रसंग अन्यस्वरूप जानकर, जब आत्मा की दृष्टि होती है, तब ही अनुक्रम से सर्वज्ञादि (पाठान्तर=सर्वज्ञता से) ऐश्वर्यता, वह आत्मा में ज्ञात होती है और इससे विशेष ऐश्वर्यवाला कोई पदार्थ—समस्त पदार्थों को निरखने पर भी अनुभव में नहीं आ सकता, इसलिए ईश्वर है, वह आत्मा का दूसरा यथार्थिक नाम है, इससे कोई विशेष सत्तावाला पदार्थ ईश्वर है, ऐसा नहीं है; ऐसा निश्चय में मेरा अभिप्राय है।

(२) वह जगत्कर्ता नहीं, अर्थात् परमाणु, आकाशादि पदार्थ नित्य होनेयोग्य है, वे कोई भी वस्तुएँ बननेयोग्य नहीं, कदापि ऐसा गिने कि वे ईश्वर में से बने हैं, तो वह बात भी योग्य नहीं लगती क्योंकि ईश्वर को यदि चेतनपने मानते हैं तो उससे परमाणु, आकाश आदि उत्पन्न कैसे हो सकते हैं? क्योंकि चेतन से जड़ की उत्पत्ति होना ही सम्भवित नहीं है। यदि ईश्वर को जड़ स्वीकार किया जाये तो सहज वह अनेश्वर्यवान् सिद्ध होता है तथा उससे जीवरूप चेतनपदार्थ की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती। जड़-चेतन उभयरूप ईश्वर गिने तो, फिर जड़-चेतन उभयरूप जगत है, उसका ईश्वर ऐसा दूसरा नाम कहकर सन्तोष रखने जैसा होता है। और जगत का नाम ईश्वर रखकर सन्तोष रख लेना, इसकी

अपेक्षा जगत को जगत कहना, वह विशेष योग्य है। कदापि परमाणु, आकाशादि नित्य गिने और ईश्वर को कर्मादि के फल देनेवाला गिने, तो यह बात सिद्ध ज्ञात नहीं होती, यह विचारना 'षट्दर्शनसमुच्चय' में भले प्रकार से आयी है।

**सर्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का सर्व प्रकार से जाननेवाला, राग-द्वेषादि सर्व विभाव जिसने क्षीण किये हैं, वह ईश्वर है।**

अब चौथा विकल्प प्रकृत्यादि बलजोरी से चिपकने से कर्म होते हों ? यह विकल्प भी यथार्थ नहीं है। क्योंकि प्रकृत्यादि जड़ है, उसे आत्मा ग्रहण नहीं करता तो वह किस प्रकार चिपटनेयोग्य हो ? अथवा द्रव्यकर्म का दूसरा नाम प्रकृति है, इसलिए कर्म का कर्तापना कर्म को ही कहना यथार्थ हुआ। वह तो पूर्व में निषेध दिखलाया है। प्रकृति नहीं, तो अन्तःकरणादि कर्म ग्रहण करे, इससे आत्मा में कर्तापना लगता है, ऐसा कहें तो वह भी एकान्त से सिद्ध नहीं है। अन्तःकरणादि भी चेतन की प्रेरणा बिना अन्तःकरणादिरूप से प्रथम सिद्ध ही कहाँ से हो ? चेतन जो कर्म लगने का मनन करने को अवलम्बन लेता है, वह अन्तःकरण है। यदि चेतन मनन नहीं करे तो कहीं उस वर्गणा में मनन करने का धर्म नहीं है, वह तो मात्र जड़ है। चेतन की प्रेरणा से चेतन उसे अवलम्ब कर कुछ ग्रहण करता है, इसलिए उसके विषय में कर्तापना आरोपित किया जाता है, परन्तु मुख्यरूप से वह चेतनकर्म का कर्ता है। (इस स्थल में वेदान्तादि दृष्टि से विचार करोगे तो हमारे यह वाक्य भ्रान्तिगत पुरुष के कहे हुए लगेंगे, परन्तु अब जो प्रकार कहा है, उसे समझने से तुमको इस वाक्य की यथातथ्यता लगेगी और भ्रान्तिगतपना भास्यमान नहीं होगा।)

यदि किसी भी प्रकार से आत्मा को कर्म का कर्तृत्वपना न हो तो किसी भी प्रकार से उसका भोक्तृत्वपना भी न सिद्ध हो और जब ऐसा ही हो तो फिर उसके किसी भी प्रकार के दुःखों का सम्भव होना भी हो ही नहीं। जब किसी भी प्रकार के दुःखों का सम्भव आत्मा को होता ही न हो तो फिर वेदान्तादि शास्त्र सर्व दुःखों से क्षय होने का जो मार्ग उपदेश करते हैं, वह किसलिए उपदेश करते हैं ? जब तक आत्मज्ञान नहीं होता, तब तक दुःख से आत्यान्तिक निवृत्ति नहीं होती; ऐसा वेदान्तादि कहते हैं। वह यदि दुःख ही न हो

तो उसकी निवृत्ति का उपाय किसलिए कहना चाहिए ? और कर्तृत्वपना न हो, तो दुःख का भोक्तृत्वपना कहाँ से होगा ? ऐसा विचार करने से कर्म का कर्तृत्व सिद्ध होता है ।

अब यहाँ एक प्रश्न होनेयोग्य है और तुमने भी वह प्रश्न किया है कि 'यदि कर्म का कर्तापना आत्मा को माने, तब तो आत्मा का वह धर्म सिद्ध हो और जो जिसका धर्म होता है, वह कभी भी उच्छेद होनेयोग्य नहीं है अर्थात् उससे केवल भिन्न पड़ सकनेयोग्य नहीं है, जैसे अग्नि की उष्णता अथवा प्रकाश की भाँति। इसी प्रकार यदि कर्म का कर्तापन आत्मा का धर्म सिद्ध हो तो वह नाश पावे नहीं। इसलिए सर्व प्रमाणांश के स्वीकारों बिना ऐसा सिद्ध हो, परन्तु विचारवान् हो, वह कोई एक प्रमाणांश स्वीकार करके दूसरे प्रमाणांशों का नाश नहीं करता। 'उस जीव को कर्म का कर्तापन नहीं होता ?' अथवा 'होवे तो वह प्रतीति होनेयोग्य नहीं।' यह आदि प्रश्न किये, उसके उत्तर में जीव का कर्म का कर्तृत्व बतलाया है। कर्म का कर्तृत्व हो तो वह टले ही नहीं, ऐसी कोई स्थिति समझनायोग्य नहीं। क्योंकि जो-जो कोई भी वस्तु ग्रहण की हो, उसे छोड़ा जा सकता है अर्थात् त्यागा जा सकता है क्योंकि ग्रहण की हुई वस्तु से ग्रहण करनेवाली वस्तु का केवल एकत्व कैसे होगा ? इसलिए जीव ने ग्रहण किये हुए ऐसे जो द्रव्यकर्म, उनका जीव त्याग करे तो हो सकनेयोग्य है। क्योंकि वह उसे सहकारी स्वभाव से है, सहज स्वभाव से नहीं; और उस कर्म को मैंने तुमको अनादि भ्रम कहा है, अर्थात् वह कर्म का कर्तापना अज्ञान से प्रतिपादन किया है। इसलिए भी वह निवृत्त होने योग्य है, ऐसा साथ में समझना घटित होता है। जो-जो भ्रम होता है, वह-वह वस्तु की उल्टी स्थिति की मान्यतारूप होता है। और इसलिए वह टलनेयोग्य है। जैसे मृगजल में से जलबुद्धि।

कहने का आशय यह है कि अज्ञान से भी यदि आत्मा को कर्तापना न हो, तब तो कुछ उपदेशादि श्रवण, विचार, ज्ञान, आदि समझने का हेतु नहीं रहता।



नडियाद,  
संवत् १९५२, आसोज कृष्ण २

अब यहाँ आगे जीव का परमार्थ से जो कर्तापना है, वह कहते हैं—

**चेतन जो निज-भान में, कर्ता आप स्वभाव ।**

**रहे नहीं निजभान में, कर्ता कर्म-प्रभाव ॥७८ ॥**

अपने स्वरूप के भान में आत्मा अपने स्वभाव को अर्थात् चैतन्यादि स्वभाव का ही कर्ता है, अन्य किसी भी कर्मादिक का कर्ता नहीं; और आत्मा जब अपने स्वरूप के भान में नहीं वर्तता, तब कर्म के प्रभाव का कर्ता कहा है ।

परमार्थ से तो जीव अक्रिय है, ऐसा वेदान्तादि का निरूपण है; और जिन प्रवचन में भी सिद्ध अर्थात् शुद्धात्मा का अक्रियपना है, ऐसा निरूपण किया है, तथापि हमने आत्मा को शुद्धावस्था में कर्ता होने से सक्रिय कहा, ऐसा सन्देह यहाँ होनेयोग्य है, वह सन्देह इस प्रकार से शमित होनेयोग्य है:—शुद्धात्मा परसंयोग का, परभाव का और विभाव का वहाँ कर्ता नहीं, इसलिए अक्रिय कहनेयोग्य है, परन्तु चैतन्यादि स्वभाव का भी आत्मा कर्ता नहीं, ऐसा यदि कहें, तब तो फिर उसका कुछ भी स्वरूप न रहे। शुद्धात्मा को योगक्रिया नहीं होने से वह अक्रिय है परन्तु स्वाभाविक चैतन्यादि स्वभावरूप क्रिया होने से वह सक्रिय है। चैतन्यात्मकपना आत्मा को स्वाभाविक होने से उसमें आत्मा का परिणमना, वह एकत्वरूप ही है, और इसलिए परमार्थनय से सक्रिय ऐसा विशेषण वहाँ भी आत्मा को दिया जा सकता है। निजस्वभाव में परिणमनेरूप सक्रियता से निजस्वभाव का कर्तापना शुद्धात्मा को है, इसलिए केवल शुद्ध स्वधर्म होने से एकात्मपने परिणमता है, इससे सक्रिय कहने में भी दोष नहीं है। जिस विचार से सक्रियता, अक्रियता निरूपण की है, उस विचार के परमार्थ को ग्रहण कर सक्रियता, अक्रियता कहने में कुछ दोष नहीं है।





फलदाता ईश्वर गिनें, भोक्तापना सधाय।

ऐसा ईश्वर मानें तो, ईश्वरपना ही जाय॥८०॥

‘ईश्वर सिद्ध हुए बिना अर्थात् कर्मफल दातृत्वादि कोई भी ईश्वर सिद्ध हुए बिना जगत की व्यवस्था रहना सम्भवित नहीं है।’ ऐसे अभिप्राय के सम्बन्ध में निम्नानुसार विचारनायोग्य है —

यदि कर्म के फल को ईश्वर देता है, ऐसा गिने तो वहाँ ईश्वर का ईश्वरपना ही नहीं रहता, क्योंकि पर को फल देने आदि प्रपंच में प्रवर्तते ईश्वर को देहादि अनेक प्रकार का संग होना सम्भव है। और इससे यथार्थ शुद्धता का भंग होता है, मुक्त जीव जैसे निष्क्रिय है अर्थात् परभावादि का कर्ता नहीं, यदि परभावादि का कर्ता हो, तब तो संसार की प्राप्ति होती है। तथा ईश्वर भी पर को फल देने आदिरूप क्रिया में प्रवर्तते तो उसे भी परभावादि के कर्तृत्व का प्रसंग आता है और मुक्त जीव की अपेक्षा उसका शून्यत्व सिद्ध होता है, इसलिए तो उसका ईश्वरपना ही उच्छेदने जैसी स्थिति होती है।

और जीव तथा ईश्वर का स्वभावभेद मानने से भी अनेक दोष सम्भवित हैं। यदि दोनों को चैतन्यस्वभाव माने तो दोनों समान धर्म के कर्ता हुए। उसमें ईश्वर जगतादि रचे अथवा कर्म का फल देनेरूप कार्य करे और मुक्त गिना जाये; और जीव एकमात्र देहादि सृष्टि रचे और अपने कर्म का फल पाने के लिये ईश्वराश्रय ग्रहण करे, तथा बन्ध में गिना जाये, यह बात यथार्थ नहीं दिखती। ऐसी विषमता क्यों सम्भवित हो।

और जीव से ईश्वर का सामर्थ्य विशेष माने तो भी विरोध आता है। ईश्वर शुद्ध चैतन्यस्वरूप गिने तो शुद्ध चैतन्य ऐसे मुक्त जीव में और उसमें भेद नहीं पड़ना चाहिए; और ईश्वर से कर्म के फल देने आदि कार्य नहीं होना चाहिए। अथवा मुक्त जीव से भी वह कार्य होना चाहिए। और ईश्वर को यदि अशुद्ध चैतन्यस्वरूप गिना जाये, तब तो संसारी जीव जैसी उसकी स्थिति सिद्ध हो, वहाँ फिर सर्वज्ञादि गुणों का सम्भव कहाँ से हो? अथवा देहाधारी सर्वज्ञ की भाँति उसे ‘देहाधारी सर्वज्ञ ईश्वर’ माने तो भी सर्व

कर्मफल दातृत्वरूप 'विशेष स्वभाव' ईश्वर में किस गुण के कारण माननेयोग्य होगा ? और देह तो नाश पानेयोग्य है, इसलिए ईश्वर का भी देह नाश पावे और वह मुक्त होने से कर्मफल दातृत्व न रहे, यह इत्यादि अनेक प्रकार से ईश्वर को कर्मफल दातृत्व कहने से दोष आते हैं, और ईश्वर को उस स्वरूप से मानने से उसका ईश्वरपना उत्थापित होने के समान होता है ।

**उन-उन भोग्य-विशेष के, स्थानक द्रव्य-स्वभाव ।**

**गहन बात है शिष्य यह, कही संक्षेप बताय ॥८६॥**

**आशंका—**इसी प्रकार यदि ईश्वर कर्मफलदाता न हो अथवा जगत कर्ता न गिने तो कर्म भोगने के विशेष स्थानक अर्थात् नरकादि गति आदि स्थान कहाँ से हो, क्योंकि उसमें तो ईश्वर के कर्तृत्व की आवश्यकता है ।

**समाधान—**ऐसी आशंका करना भी योग्य नहीं, क्योंकि मुख्यरूप से तो उत्कृष्ट शुभ अध्यवसाय, वह उत्कृष्ट देवलोक है और उत्कृष्ट अशुभ अध्यवसाय, वह उत्कृष्ट नरक है, शुभाशुभ अध्यवसाय वह मनुष्य, तिर्यचादि है और स्थान विशेष अर्थात् ऊर्ध्वलोक में देवगति, इत्यादि भेद हैं । जीव समूह के कर्मद्रव्य के भी वे परिणाम विशेष हैं । इसलिए वे-वे गतियाँ जीव के कर्म विशेष परिणामादि सम्भवते हैं ।

यह बात बहुत गहन है क्योंकि अचिन्त्य ऐसा जीव—वीर्य, अचिन्त्य ऐसा पुद्गल सामर्थ्य, उसके संयोग विशेष से लोक परिणमता है । उसका विचार करने के लिये बहुत विस्तार करना चाहिए । परन्तु यहाँ तो मुख्यतः आत्मा, कर्म का भोक्ता है, इतना ही लक्ष्य कराने का होने से एक अत्यन्त संक्षिप्त में यह प्रसंग कहा है ।

**नडियाद**

**आसोज कृष्ण २, संवत् १९५२**



**अनन्य शरण के दाता ऐसे श्री सद्गुरुदेव को अत्यन्त भक्ति से नमस्कार**

जो शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त हुए हैं, ऐसे ज्ञानी पुरुषों ने नीचे कहे हुए छह पदों को सम्यग्दर्शन के निवास के सर्वोत्कृष्ट स्थानक कहे हैं—

**प्रथम पद**—‘आत्मा है।’ जैसे घटपटादि पदार्थ हैं, वैसे आत्मा भी है। अमुक गुण होने के कारण जैसे घटपटादि के होने का प्रमाण है, वैसे स्वपरप्रकाशक चैतन्यसत्ता का प्रत्यक्ष गुण जिसमें है, ऐसा आत्मा के होने का प्रमाण है।

**दूसरा पद**—‘आत्मा नित्य है।’ घटपटादि पदार्थ अमुक कालवर्ती है। आत्मा त्रिकालवर्ती है। घटपटादि संयोगजन्य पदार्थ हैं। आत्मा स्वाभाविक पदार्थ है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति के लिये कोई भी संयोग अनुभव योग्य नहीं होते। किसी भी संयोगी द्रव्य से चेतनसत्ता प्रगट होनेयोग्य नहीं है, इसलिए अनुत्पन्न है। असंयोगी होने से अविनाशी है, क्योंकि जिसकी उत्पत्ति किसी संयोग से नहीं होती, उसका किसी में लय भी नहीं होता।

**तीसरा पद**—‘आत्मा कर्ता है।’ सर्व पदार्थ अर्थक्रियासम्पन्न हैं। किसी न किसी परिणाम-क्रियासहित ही सर्व पदार्थ देखने में आते हैं। आत्मा भी क्रियासम्पन्न है। क्रियासम्पन्न है, इसलिए कर्ता है। श्री जिन ने उस कर्तृत्व का त्रिविध विवेचन किया है—परमार्थ से स्वभावपरिणति द्वारा आत्मा निजस्वरूप का कर्ता है। अनुपचरित (अनुभव में आनेयोग्य, विशेष सम्बन्धसहित) व्यवहार से यह आत्मा द्रव्यकर्म का कर्ता है। उपचार से घर, नगर आदि का कर्ता है।

**चौथा पद**—‘आत्मा भोक्ता है।’ जो-जो कुछ क्रियाएँ हैं, वे सब सफल हैं, निरर्थक नहीं। जो कुछ भी किया जाता है, उसका फल भोगने में आता है, ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव है। जैसे विष खाने से विष का फल, मिश्री खाने से मिश्री का फल, अग्निस्पर्श से

अग्निस्पर्श का फल, हिम का स्पर्श करने से हिमस्पर्श का फल हुए बिना नहीं रहता, वैसे कषायादि अथवा अकषायादि जिस किसी भी परिणाम से आत्मा प्रवृत्ति करता है, उसका फल भी होनेयोग्य ही है, और वह होता है। उस क्रिया का कर्ता होने से आत्मा भोक्ता है।

**पाँचवाँ पद**—‘मोक्षपद है।’ जिस अनुपचरित व्यवहार से जीव के कर्म का कर्तृत्व का निरूपण किया, कर्तृत्व होने से भोक्तृत्व का निरूपण किया, उस कर्म की निवृत्ति भी है; क्योंकि प्रत्यक्ष कषायादि की तीव्रता हो, परन्तु उसके अनभ्यास से, उसके अपरिचय से, उसका उपशम करने से उसकी मन्दता दिखायी देती है, वह क्षीण होनेयोग्य दिखता है, क्षीण हो सकता है। वह बन्धभाव क्षीण हो सकनेयोग्य होने से, उससे रहित जो शुद्ध आत्मस्वभाव है, वही मोक्षपद है।

**छठा पद**—‘उस मोक्ष का उपाय है।’ यदि कभी ऐसा ही हो कि कर्मबन्ध मात्र हुआ करे तो उसकी निवृत्ति किसी काल में सम्भव नहीं है, परन्तु कर्मबन्ध से विपरीत स्वभाववाले ज्ञान, दर्शन, समाधि, वैराग्य, भक्ति आदि साधन प्रत्यक्ष हैं, जिन साधनों के बल से कर्मबन्ध शिथिल होता है, उपशान्त होता है, क्षीण होता है। इसलिए वे ज्ञान, दर्शन, संयम आदि मोक्षपद के उपाय हैं।

श्री ज्ञानीपुरुषों द्वारा सम्यग्दर्शन के मुख्य निवासभूत कहे हुए इन छह पदों को यहाँ संक्षेप में बताया है। समीपमुक्तिगामी जीव को सहज विचार में ये सप्रमाण होनेयोग्य हैं, परम निश्चयरूप प्रतीत होनेयोग्य हैं, उसका सर्व विभाव से विस्तार होकर उसके आत्मा में विवेक होनेयोग्य है। ये छह पद अत्यन्त सन्देहरहित हैं, ऐसा परमपुरुष ने निरूपण किया है। इन छह पदों का विवेक जीव को स्वस्वरूप समझने के लिये कहा है। अनादि स्वप्नदशा के कारण उत्पन्न हुए जीव के अहंभाव, ममत्वभाव के निवृत्त होने के लिये ज्ञानीपुरुषों ने इन छह पदों की देशना प्रकाशित की है। उस स्वप्नदशा से रहित मात्र अपना स्वरूप है, ऐसा यदि जीव परिणाम करे, तो वह सहजमात्र में जागृत होकर सम्यग्दर्शन को प्राप्त होता है; सम्यग्दर्शन को प्राप्त होकर स्वस्वभावरूप मोक्ष को प्राप्त होता है। किसी

विनाशी, अशुद्ध और अन्य ऐसे भाव में उसे हर्ष, शोक, संयोग उत्पन्न नहीं होता। इस विचार से स्वस्वरूप में ही शुद्धता, सम्पूर्णता, अविनाशता, अत्यन्त आनन्दता, अन्तर रहित उसके अनुभव में आते हैं। सर्व विभावपर्याय में मात्र स्वयं को अध्यास से एकता हुई है, उससे केवल अपनी भिन्नता ही है, ऐसा स्पष्ट-प्रत्यक्ष-अत्यन्त प्रत्यक्ष-अपरोक्ष उसे अनुभव होता है। विनाशी अथवा अन्य पदार्थ के संयोग में उसे इष्ट-अनिष्टता प्राप्त नहीं होती। जन्म, जरा, मरण, रोगादि बाधारहित सम्पूर्ण माहात्म्य का स्थान, ऐसा निजस्वरूप जानकर, वेदन कर वह कृतार्थ होता है। जिन जिन पुरुषों को इन छह पदों से सप्रमाण ऐसे परम पुरुषों के वचन से आत्मा का निश्चय हुआ है, वे सब पुरुष स्वस्वरूप को प्राप्त हुए हैं, आधि, व्याधि, उपाधि और सर्व संग से रहित हुए हैं, होते हैं, और भविष्यकाल में भी वैसे ही होंगे।

जिन सत्पुरुषों ने जन्म, जरा और मरण का नाश करनेवाला, स्वस्वरूप में सहज अवस्थान होने का उपदेश दिया है, उन सत्पुरुषों को अत्यन्त भक्ति से नमस्कार है। उनकी निष्कारण करुणा की नित्य प्रति निरन्तर स्तुति करने से भी आत्मस्वभाव प्रगट होता है। ऐसे सर्व सत्पुरुषों के चरणारविंद सदा ही हृदय में स्थापित रहे।

जिसके वचन अंगीकार करने पर छह पदों से सिद्ध ऐसा आत्मस्वरूप सहज में प्रगट होता है, जिस आत्मस्वरूप के प्रगट होने से सर्व काल जीव सम्पूर्ण आनन्द को प्राप्त होकर निर्भय हो जाता है, उन वचनों के कहनेवाले सत्पुरुष के गुणों की व्याख्या करने की शक्ति नहीं है; क्योंकि जिसका प्रत्युपकार नहीं हो सकता, ऐसा परमात्मभाव मानों कुछ भी इच्छा किये बिना मात्र निष्कारण करुणाशीलता से दिया; ऐसा होने पर भी जिसने दूसरे जीव को यह मेरा शिष्य है, अथवा मेरी भक्ति करनेवाला है, इसलिए मेरा है, इस प्रकार कभी नहीं देखा, ऐसे सत्पुरुष को अत्यन्त भक्ति से बारंबार नमस्कार हो।

सत्पुरुषों ने सद्गुरु की जिस भक्ति का निरूपण किया है, वह भक्ति मात्र शिष्य के कल्याण के लिये कही है। जिस भक्ति को प्राप्त होने से सद्गुरु के आत्मा की चेष्टा में वृत्ति



रहे, अपूर्व गुण दृष्टिगोचर होकर अन्य स्वच्छन्द मिटे और सहज में आत्मबोध हो, ऐसा जानकर जिस भक्ति का निरूपण किया है, उस भक्ति को और उन सत्पुरुषों को पुनः पुनः त्रिकाल नमस्कार हो।

यद्यपि वर्तमान काल में प्रगटरूप से केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं हुई, परन्तु जिसके वचन के विचारयोग से शक्तिरूप से केवलज्ञान है, यह स्पष्ट जाना है, श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ है, विचारदशा से केवलज्ञान हुआ है, इच्छादशा से केवलज्ञान हुआ है, मुख्य नय के हेतु से केवलज्ञान रहता है, जिसके योग से जीव सर्व अव्याबाध सुख के प्रगट करनेवाले उस केवलज्ञान को सहजमात्र में प्राप्त करनेयोग्य हुआ, उस सत्पुरुष के उपकार को सर्वोत्कृष्ट भक्ति से नमस्कार हो! नमस्कार हो!!



**जिनकी प्रत्यक्ष दशा ही बोधरूप है,  
उन महापुरुष को धन्य है**

**आत्मा के छह स्थान सिद्ध करने में विवेकज्ञान**

आत्मा है, आत्मा नित्य है, आत्मा कर्म का कर्ता है, आत्मा कर्म का भोक्ता है, इसलिए वह निवृत्त हो सकता है और निवृत्त हो सकने का साधन है। यह छह कारण जिसे विचार से सिद्ध हों, उसे 'विवेकज्ञान' अथवा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति गिनना, ऐसा श्रीजिन ने निरूपण किया है। वह निरूपण मुमुक्षु जीव को विशेष अभ्यास करनेयोग्य है।

— श्रीमद् राजचन्द्र



**प्रत्यक्ष सद्गुरु सम नहीं, परोक्ष जिन उपकार।  
ऐसा लक्ष्य हुए बिना, उगे न आत्म-विचार ॥११॥**

परोक्ष जिन-सर्वज्ञ के वचनों का आशय प्रत्यक्ष गुरुगम बिना समझ में नहीं आता और निमित्तता व्यवहार-वचन सच्चे मानकर उनके आग्रह में रुककर वीतराग को पहिचाने नहीं, इसलिए उसकी भ्रान्ति कैसे टले? .... प्रत्यक्ष परम उपकारी को न जाने

और बहुमान-आदर न रहे, उसे आत्मा का सम्यग्ज्ञान कहाँ से उपजे ? यहाँ 'उगे' शब्द में ऐसा कहते हैं कि जहाँ प्रत्यक्ष सद्गुरु को पहिचानकर उनका बहुमान आया, वहाँ सम्यग्दर्शन का बीज-आत्मगुण उघड़ता है परन्तु उस बोधिबीज के दाता का संग न करे तो परोक्ष जिनेश्वर कहीं उसे उपकारी हुए नहीं कहलाते। प्रत्यक्ष सद्गुरु भी उपकारी तब कहलाते हैं कि जब स्वयं पुरुषार्थ द्वारा पात्रता से सद्गुरु को पहिचाने। 'उगे' शब्द में तीन न्याय आते हैं—

(१) अपनी पात्रता से, गुरु-विनय से वह तत्त्व की प्रतीति हुई, आदर हुआ, साथ में गुरु का भी बहुमान आया और साधकभाव अर्थात् स्व आत्मबोध बीज—सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुई। जिस भाव से पूर्णता में से शुद्ध गुण उघड़ा, वह अप्रतिहत—(अफर)—भाव से केवलज्ञान लेनेवाला ही है, ऐसा वर्तमान में निःसन्देह जाति में से सच्चा निर्णय आता है।

(२) वही सत्पुरुष ज्ञानी है, आत्मा ऐसा ही है, ऐसा सहजभाव से अपूर्वरूप से आत्मबोध की बात सुनी, वह भी कारण सम्यक्त्वरूप बोधबीज है।

(३) उसे आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कुछ चाहिए नहीं, उसने प्रत्यक्ष सत्पुरुष की महिमा अपने में लाकर जो बोधिबीज बोया है, उसका उसे पूर्ण विश्वास है कि यह उगे हुए अंकुर फलेंगे ही।

'ऐसा लक्ष्य हुए बिना उगे न आत्मविचार' इस पद का अस्ति से अर्थ करें तो ऐसा अर्थ है कि जिसने प्रत्यक्ष सद्गुरु का आश्रय किया है और परीक्षापूर्वक मानता है कि यही भ्रान्ति के छेदनेवाले हैं, ऐसा जानकर वीतराग का लक्ष्य सद्गुरु समागम से प्रगट किया है, उसे आत्मविचार प्रगट उदय को प्राप्त हुआ है और अल्प काल में पूर्णता को प्राप्त करेगा।

और परोक्ष जिनेश्वरदेव अनन्त पुरुषार्थसहित थे, इसलिए उन्हें पुरुषार्थ करना बाकी नहीं परन्तु पुरुषार्थ करनेवाला वर्तमान स्वकाल का पुरुषार्थ करता है, वह सर्वज्ञ को

पहिचानकर, जो ज्ञानी अपना सम्यक् पुरुषार्थ करता है, वह ज्ञानी अपनी भूल बताते हैं, क्योंकि अपनी भूल सद्गुरु के समागम बिना दूसरे बता नहीं सकते।

जिसे वर्तमान प्रत्यक्ष सद्गुरु पर विश्वास आया है, वह 'पुरुष की प्रमाणता से उनके वचन को प्रमाण' इस सिद्धान्त को स्वीकार करता है और इसलिए उसे निःशंक श्रद्धा है कि यह मेरा कार्य पुरुषार्थ द्वारा निःशंकरूप से फलित होनेवाला है। परन्तु जिसे वर्तमान धर्मात्मा के ऊपर विश्वास नहीं आया, परन्तु परोक्ष जिनवचनों पर आधार रखा, उसे पराधीनता और शंकापना मूल में आया, क्योंकि अपना पुरुषार्थ फलवान है या नहीं, उसका विश्वास स्वयं को तो नहीं और प्रत्यक्ष सत्समागम से निर्णय करनेवाला तो जानता है कि प्रत्यक्ष सद्गुरु अपने निमित्त से किसी को परावलम्बी नहीं होने देते। सत्समागम का प्रत्यक्ष फल साधक को (मुमुक्षु को) स्वयं के द्वारा दिखता है, इसलिए शंका नहीं होती।

और नित्य का उगना नित्यरूप से टिका रहता है। शुभभाव-विभावभाव जो अनित्य है, उसका टिकना पराश्रय के कारण है। आत्मज्ञान बिना अयथार्थ विचार का उगना अनित्य से है। क्योंकि वह पर से परलक्ष्य से उगा है परन्तु वह साक्षात् सद्गुरु के लक्ष्य से और स्वाश्रय के भान से जगा नहीं है। मैं मुझमें ही हूँ, मेरा पूर्ण रूप उघड़ना, वह मुझसे ही है, ऐसी ध्वनि कौन देगा ?

सत्पुरुष के लक्ष्य से जिसे अन्तर में सम्यग्दृष्टिरूप अपूर्व स्फुरणा उगे, उसे अन्यत्र पूछने जाना नहीं पड़ता। पात्रता, समझण, गुरुगम और सत्समागम बिना शास्त्र पढ़े, विचार करे, वह वृथा है। स्वच्छन्द में रहकर साधकपना माने, फिर ध्यान करे; आँखें बन्द करे तो नींद आवे; आत्मा के विकल्प करे, वह भी राग का कर्ता होकर राग में टिके और राग में परिणमे, उसके आत्मध्यान में अनेक तरंग हुआ करती है। मन को स्थिर करे तो जड़ जैसा हो जाये, ऐसा सबमें उल्टा हो, यह स्वच्छन्द (मिथ्यादृष्टिपना) टालने के लिये वर्तमान पुरुषार्थ में स्थिति है। जिसे ऐसे सत्पुरुष, वे ही बलवान उपकारी निमित्त हैं,

उनकी पहिचान, उनका लक्ष्य अपूर्व समझ के लिये करता नहीं और परोक्ष जिनेश्वरदेव का उपकार मैंने जाना है, ऐसा मानना, वह समझ की भूल है।

प्रत्यक्ष सद्गुरु ही आत्मभ्रान्ति के छेदक हैं, उन्हें जानकर, उनकी प्रतीति से तथा अपनी पात्रता से ही सम्यक्त्वरूपी बोधिबीज उगता है। साधक का पुरुषार्थ क्या? व्यवहार क्या? उस-उस भूमिका के अन्तरंग परिणाम क्या? उसे पहिचान और उस प्रकार के पुरुषार्थ का अंश भी जाने बिना अनन्त पुरुषार्थ की ओर परोक्ष जिन वीतराग की खबर कहाँ से पड़े? स्वच्छन्दी पुरुष को सच्चे पुरुषार्थ की उपस्थिति नहीं, सद्गुरु के प्रति प्रेम नहीं।

—श्री आत्मसिद्धि प्रवचन



**आत्मादि अस्तित्व के, जो हैं निरूपक शास्त्र।**

**प्रत्यक्ष सद्गुरु योग नहीं, वहाँ आधार सुपात्र ॥13 ॥**

सर्वज्ञ जिनेश्वर प्रणीत आगम-शास्त्र जो सुपात्र जीव होते हैं, उन्हें आत्मा की पहिचान करे तो आधार कहे जाते हैं, तो भी वह प्रत्यक्ष भ्रान्ति का छेदक नहीं। इस पद में तो प्रत्यक्ष सत्पुरुष का अमुक विरह जिसे हो, उस मुमुक्षु को कौन से शास्त्र वाँचना, यह विषय है। पहले कहा जा चुका है कि आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप अकेला सदा स्वाधीन है। है, वह नित्य है; है, वह पररूप नहीं। परक्षेत्र-काल-संयोगों के आधीन नहीं, परभाव-रागभावरूप नहीं, अपने शुद्ध अथवा अशुद्ध भावों का ही कर्ता, भोक्ता है, इत्यादि अविरोधी न्याय कथन जिनमें है, ऐसे शास्त्र जीव को उपकारी है। जब प्रत्यक्ष पुरुष का समागम न हो, तब अपनी योग्यता में-पात्रता में सुशास्त्र निमित्त हैं। परन्तु ११वीं गाथा में कहा, वैसे कोई मोही जीव प्रत्यक्ष, उघड़े हुए, पुरुषार्थवाले श्रीगुरु का उपेक्षक होकर शास्त्रों के पृष्ठों में रुके तो उसे आत्मा की यथार्थ रुचि नहीं है; चैतन्य का आदर चाहिए, उसके बदले (जिसमें निश्चय से अपना आदर है, उसे भूला है), उसे जड़ पुस्तक का ही आदर है और राग का आदर है, इसलिए वह राग की भक्ति करता है।

जो आत्मार्थी है, वह सत्पुरुष के अभिप्रायानुसार स्वयं निर्णय करता है; शास्त्र में जिस-जिस नय से (दृष्टिकोण से) जिस-जिस प्रमाण से, निश्चय-व्यवहार से, परमार्थ से जो-जो न्याय, जहाँ-जहाँ योग्य है, वे-वे यथास्थान समझे, आत्मा केवल शुद्ध ही है, ऐसा भी नहीं; द्रव्यस्वभाव से शुद्धता और पर्याय से अशुद्धता जाने। अशुद्धपना टालने के लिये पुरुषार्थ करे, शुभाशुभराग में एकत्वबुद्धि-हितबुद्धि टालकर, निर्मल ज्ञानदशा का पुरुषार्थ बढ़ाने का प्रयोजन (जो शास्त्राभ्यास का फल) साधे। अपूर्ण दशा है, तब तक सत्शास्त्र का अभ्यास, स्वाध्याय आदि करता है।

— आत्मसिद्धि प्रवचन

\* \* \*

### सत्श्रुत

- (1) श्री पाण्डव पुराण, प्रद्युम्न चरित्र
- (2) श्री पद्मनन्दि पंचविंशतिका
- (3) श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार
- (4) श्री मोक्षमार्गप्रकाश
- (5) श्री योगदृष्टि समुच्चय
- (6) श्री क्षपणासार
- (7) श्री त्रिलोकसार
- (8) श्री प्रवचनसार
- (9) श्री पंचास्तिकाय
- (10) श्री परमात्मप्रकाश
- (11) श्री पुरुषार्थसिद्धिउपाय
- (12) श्री गोम्मटसार
- (13) श्री आत्मानुशासन
- (14) श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षा



- (15) श्री क्रियाकोष
- (16) श्री लब्धिसार
- (17) श्री तत्त्वसार
- (18) श्री समयसार
- (19) श्री अष्टप्राभृत
- (20) श्री रयणसार—इत्यादि अनेक हैं ।

इन्द्रिय निग्रह के अभ्यासपूर्वक यह सत्श्रुत सेवनयोग्य है, इसका फल अलौकिक है—अमृत है ।

— श्रीमद् राजचन्द्र तथा श्रीमद् राजचन्द्र की जीवनरेखा, पृष्ठ 148



### निर्मलार्थ सत्श्रुत और सत्समागम

आत्मस्वभाव की निर्मलता होने के लिये मुमुक्षु जीव को दो साधन अवश्य सेवनयोग्य है—सत्श्रुत और सत्समागम । प्रत्यक्ष सत्पुरुष का समागम क्वचित् क्वचित् जीव को प्राप्त होता है, परन्तु यदि जीव सद्दृष्टिवन्त हो तो सत्श्रुत के बहुत काल के सेवन से होनेवाला लाभ प्रत्यक्ष सत्पुरुष के समागम से बहुत अल्प काल में प्राप्त कर सकता है । जीव को वैसा समागम / योग प्राप्त हो, ऐसा विशेष प्रयत्न कर्तव्य है । ऐसे योग के अभाव में सत्श्रुत का परिचय अवश्य करनेयोग्य है; शान्तरस की जिसमें मुख्यता है, शान्तरस के हेतु से जिसका समस्त उपदेश है, सर्व रसगर्भित जिसमें वर्णन किये हैं—ऐसे शास्त्र का परिचय, वह सत्श्रुत का परिचय है ।

— श्रीमद् राजचन्द्र

ववाणिया  
मागसर, १९५२

## परम पद प्राप्ति की भावना

(अन्तर्गत)

गुणश्रेणी स्वरूप

अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ?  
क्यारे थईशुं बाह्यांतर निर्गन्थ जो ?  
सर्व सम्बन्धनुं बन्धन तीक्षण छेदीने,  
विचरशुं कब महत्पुरुष ने पंथ जो ?  
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ॥1 ॥

अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा,  
कब होऊँगा बाह्यान्तर निर्गन्थ जब ।  
सम्बन्धों का बन्धन तीक्षण छेद कर,  
विचरूँगा कब महत्पुरुष के पंथ जब ॥  
अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा ॥

सर्व भावथी औदासिन्यवृत्ति करी,  
मात्र देह ते संयम हेतु होय जो ;  
अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहीं,  
देहे पण किंचित् मूर्छा नव जोय जो ॥  
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवेश ॥2 ॥

उदासीन वृत्ती हो सब परभाव से,  
यह तन केवल संयम हेतु होय जब ।

किसी हेतु से अन्य वस्तु चाहूँ नहीं,  
तन में किञ्चित भी मूर्छा नहिं होय जब ।  
अपूर्व..... ॥

दर्शनमोह व्यतीत थई उपज्यो बोध जे ।  
देह भिन्न केवल चैतन्यनुं ज्ञान जो ;  
तेथी प्रक्षीण चारित्रमोह विलोकिए,  
वर्ते एवुं शुद्ध स्वरूपनुं ध्यान जो ।  
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ॥३ ॥

दर्श मोह क्षय से उपजा है बोध जो ।  
तन से भिन्न मात्र चेतन का ज्ञान जब ॥  
चरित्र-मोह का क्षय जिससे हो जायेगा ।  
वर्ते ऐसा निज स्वरूप का ध्यान जब ॥  
अपूर्व..... ॥

आत्मस्थिरता त्रण संक्षिप्त योगनी,  
मुख्यपणे तो वर्ते देह पर्यन्त जो ;  
घोर परिषह के उपसर्ग भये करी,  
आवी शके नहीं ते स्थिरतानो अन्त जो ।  
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ॥४ ॥

आत्मलीनता मन-वचन-काया योग की,  
मुख्यरूप से रही देह पर्यन्त जब ।  
भयकारी उपसर्ग परिषह हो महा,  
किन्तु न होवे स्थिरता का अन्त जब ॥  
अपूर्व..... ॥

संयमना हेतुथी योगप्रवर्तना,  
स्वरूपलक्षे जिन-आज्ञा आधीन जो;  
ते पण क्षण-क्षण घटती जाती स्थितियां,  
अंते थाए निजस्वरूपमां लीन जो।  
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ॥5 ॥

संयम ही के लिए योग की वृत्ति हो,  
निज आश्रय से, जिन आज्ञा अनुसार जब।  
वह प्रवृत्ति भी क्षण-क्षण घटती जाएगी,  
होऊँ अन्त में निजस्वरूप में लीन जब ॥  
अपूर्व..... ॥

पञ्च विषयमां राग-द्वेष विरहिता,  
पञ्च प्रमादे न मले मननो क्षोभ जो;  
द्रव्य क्षेत्र ने काल भाव प्रतिबन्धवण,  
विरवुं उदयाधीन पण वीतलोभ जो।  
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ॥6 ॥

पञ्च विषय में राग-द्वेष कुछ हो नहीं,  
अरु प्रमाद से होय न मन को क्षोभ जब।  
द्रव्य-क्षेत्र अरु काल-भाव प्रतिबन्ध बिन,  
वीतलोभ को विचरूँ उदयाधीन जब ॥  
अपूर्व..... ॥

क्रोधप्रत्ये तो वर्ते क्रोधस्वभावता,  
मानप्रत्ये तो दीनपणानुं मान जो;  
मायाप्रत्ये माया साक्षी भावनी,

लोभप्रत्ये नहीं लोभ समान जो।  
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ॥7 ॥

क्रोधभाव के प्रति हो क्रोध स्वभावता,  
मानभाव प्रति दीनभावमय मान जब।  
माया के प्रति माया साक्षीभाव की,  
लोभभाव प्रति हो निर्लोभ समान जब ॥  
अपूर्व..... ॥

बहु उपसर्गकर्ता प्रत्ये पण क्रोध नहीं,  
वन्दे चक्री तथापि न मले मान जो;  
देह जाय पण माया थाय न रोममां,  
लोभ नहीं छो प्रबल सिद्धि निदान जो।  
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ॥8 ॥

बहु उपसर्ग कर्ता के प्रति भी क्रोध नहीं,  
वन्दे चक्री तो भी मान न होय जब।  
देह जाय पर माया नहीं हो रोम में,  
लोभ नहीं हो प्रबल सिद्धि निदान जब ॥  
अपूर्व..... ॥

नग्नभाव मुंडभाव सह अस्नानता,  
अदंतधोवन आदि परम प्रसिद्ध जो;  
केश रोम नख के अंगे शृंगार नहीं,  
द्रव्य-भाव संयममय निर्ग्रन्थ सिद्ध जो।  
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ॥9 ॥



नग्नभाव मुंडभावसहित अस्नानता,  
अदन्तधोवन आदि परम प्रसिद्ध जब।  
केश-रोम-नख आदि अङ्ग शृङ्गार नहिं,  
द्रव्य-भाव संयममय निर्ग्रन्थ-सिद्ध जब ॥  
अपूर्व..... ॥

शत्रु मित्र प्रत्ये वर्ते समदर्शिता,  
मान अमाने वर्ते ते ज स्वभाव जो;  
जीवित के मरणे नहीं न्यूनाधिकता,  
भव-मोक्षे पण शुद्ध वर्ते समभाव जो।  
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ॥10 ॥

शत्रु-मित्र के प्रति वर्ते समदर्शिता,  
मान-अमान में वर्ते ही स्वभाव जब।  
जन्म-मरण में हो नहिं न्यून-अधिकता,  
भव-मुक्ति में भी वर्ते समभाव जब ॥  
अपूर्व..... ॥

एकाकी विचरतो वली श्मशान मां,  
बली पर्वत मां बाघ सिंह संयोग जो;  
अडोल आसन ने मन में नहिं क्षोभता,  
परम मित्रनो जाणे पाम्या योग जो।  
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ॥11 ॥

एकाकी विचरूंगा जब श्मशान में,  
गिरि पर होगा बाघ सिंह संयोग जब।  
अडोल आसन और न मन में क्षोभ हो,

जानूँ पाया परम मित्र संयोग जब ॥  
अपूर्व..... ॥

घोर तपश्चर्यामां पण मनने ताप नहीं,  
सरस अत्रे नहीं मनने प्रसन्नभाव जो;  
रजकण के रिद्धि वैमानिक देवनी,  
सर्वे मान्या पुद्गल एक स्वभाव जो ।  
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ॥12 ॥

घोर तपश्चर्या में, तन सन्ताप नहीं,  
सरस अशन में भी हो नहीं प्रसन्न मन ।  
रजकण या ऋद्धि वैमानिक देव की ।  
सबमें भासे पुद्गल एक स्वभाव जब ॥  
अपूर्व..... ॥

एम पराजय करीने चारित्रमोहनो,  
आवुं त्यां ज्यां करण अपूर्व भाव जो;  
श्रेणी क्षपकतणी करीने आरूढ़ता,  
अनन्य चिंतन अतिशय शुद्ध स्वभाव जो ।  
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ॥13 ॥

ऐसे प्राप्त करूँ जय चारित्रमोह पर,  
पाऊँगा तब करण अपूर्व भाव जब ।  
क्षायिकश्रेणी पर होऊँ आरूढ़ जब,  
अनन्य चिन्तन अतिशय शुद्धस्वभाव जब ॥  
अपूर्व..... ॥

मोह स्वयंभूरमण समुद्र तरी करी,  
स्थित त्यां ज्यां क्षीणमोह गुणस्थान जो;  
अन्त समय त्यां पूर्णस्वरूप वीतराग थर्डे,  
प्रकटावुं निज केवलज्ञान निधान जो ।  
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ॥14 ॥

मोह स्वयंभूरमण उदधि को तैर कर,  
प्राप्त करूंगा क्षीणमोह गुणस्थान जब ।  
अन्य समय में पूर्णरूप वीतराग हो,  
प्रगटाऊं निज केवलज्ञान निधान जब ॥  
अपूर्व..... ॥

चार कर्म घनघाती ते व्यवच्छेद ज्यां,  
भवना बीजतणो आत्यन्तिक नाश जो;  
सर्व भाव-ज्ञाता-दृष्टा सह शुद्धता,  
कृतकृत्य प्रभु वीर्य-अनन्त प्रकाश जो ।  
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ॥15 ॥

चार घातिया कर्मों का क्षय हो जहाँ,  
हो भवतरु का बीज समूल विनाश जब ।  
सकल ज्ञेय का ज्ञाता-दृष्टा मात्र हो,  
कृत्यकृत्य प्रभु वीर्य अनन्त प्रकाश जब ॥  
अपूर्व..... ॥

वेदनीयादि चार कर्म वर्ते जहाँ,  
बळी सींदरीवत् आकृतिमात्र जो;

ते देहायुष आधीन जेनी स्थिति छे,  
आयुष पूर्णे मटिये दैहिक पात्र जो ।  
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ॥16 ॥

चार अघाति कर्म जहाँ वर्ते प्रभो,  
जली जेवरीवत् हो आकृति मात्र जब ।  
जिनकी स्थिति आयु कर्म आधीन है,  
आयुपूर्ण हो तो मिटता तन-पात्र जब ॥  
अपूर्व..... ॥

मन, वचन, काया ने कर्मनी वर्गणा,  
छूटे जहाँ सकल पुद्गल सम्बन्ध जो;  
एवुं अयोगी गुणस्थानक त्यां वर्ततुं,  
महाभाग्य सुखदायक पूर्ण अबन्ध जो ।  
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ॥17 ॥

मन-वच-काया अरु कर्मों की वर्गणा,  
जहाँ छूटे सकल पुद्गल सम्बन्ध जब ।  
यही अयोगी गुणस्थान तक वर्तता,  
महाभाग्य सुखदायक पूर्ण अबन्ध जब ॥  
अपूर्व..... ॥

एक परमाणु मात्रनी मळे न स्पर्शता,  
पूर्ण कलंकरहित अडोल स्वरूप जो;  
शुद्ध निरंजन चैतन्यमूर्ति अनन्यमय,  
अगुरुलघु अमूर्त सहजपदरूप जो ।  
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ॥18 ॥

इक परमाणु मात्र की न स्पर्शता,  
पूर्ण कलङ्कविहीन अडोल स्वरूप जब।  
शुद्ध निरञ्जन चेतन मूर्ति अनन्यमय,  
अगुरुलघु अमूर्त सहजपदरूप जब ॥  
अपूर्व..... ॥

पूर्व प्रयोगादि कारणना योगथी,  
ऊर्ध्वगमन सिद्धालय प्राप्त सुस्थित जो;  
सादि-अनन्त अनन्त समाधि सुखमां,  
अनन्त दर्शन ज्ञान अनन्त सहित जो।  
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ॥19 ॥  
पूर्व प्रयोगादिक कारक के योग से,  
ऊर्ध्वगमन सिद्धालय में सुस्थित जब।  
सादि-अनन्त अनन्त समाधि सुख में,  
अनन्त दर्शन ज्ञान अनन्त सहित जब ॥  
अपूर्व..... ॥

जे पद श्री सर्वज्ञे दीठूं ज्ञानमां,  
कही शक्या नहीं पण ते श्री भगवान जो;  
तेह स्वरूपने अन्य वाणी ते शुं कहे,  
अनुभवगोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो।  
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ॥20 ॥  
जो पद झलके श्री जिनवर के ज्ञान में,  
कह न सके पर वह भी श्री भगवान जब।



उस स्वरूप को अन्य वचन से क्या कहूँ,  
अनुभवगोचार मात्र रहा वह ज्ञान जब ॥  
अपूर्व..... ॥

एह परमपद प्राप्तुं कर्तुं ध्यान में,  
गजा वगर ने हाल मनोरथरूप जो;  
तो पण निश्चय राजचन्द्र मनने रह्यो,  
प्रभु आज्ञाए थाशुं ते ज स्वरूप जो।  
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ॥21 ॥

यही परमपद पाने को धर ध्यान जब,  
शक्तिविहीन अवस्था मनरथरूप जब।  
तो भी निश्चय 'राजचन्द्र' के मन रहा,  
प्रभु आज्ञा से होऊँ वही स्वरूप जब ॥  
अपूर्व..... ॥\*

जो देहधारी सर्व अज्ञान और सर्व कषायरहित हुए हैं, उन देहधारी महात्माओं को  
त्रिकाल परमभक्ति से नमस्कार हो! नमस्कार हो!!



\* इस काव्य पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के मंगल प्रवचन 'वह घड़ी कब आयेगी' नाम से उपलब्ध हैं।

## बोधामृत

‘मैं कर्ता हूँ, मैं कर्ता हूँ, मैं कैसा कर्ता हूँ’ आदि जो विभाव है, वह मिथ्यात्व, अहंकार से संसार में अनन्त दुःख प्राप्त हो, चारों गति में भटकता है।

किसी का दिया, दिया जाता नहीं, किसी का लिया, लिया जाता नहीं। जीव व्यर्थ कल्पना करके रुलता है, जिस प्रमाण कर्म उपार्जन किये हों, तत्प्रमाण (बाह्य संयोग-वियोग का) लाभ-अलाभ आयुष्य, साता-असाता प्राप्त होती है। अपने से कुछ दिया-लिया जाता नहीं। अहंकार से मैंने इसे सुख दिया, मैंने दुःख दिया, ऐसी मिथ्या भावना करता है और उसके कारण कर्म उपार्जन करता है। मिथ्यात्व से खोटा धर्म उपार्जन करता है जगत में इसका यह पिता, इसका यह पुत्र, ऐसा कहा जाता है परन्तु कोई किसी का नहीं है। पूर्व कर्म के उदय से सब बना है। अहंकार से जो ऐसी मिथ्याबुद्धि करता है, वह भूला है, चार गति में भटकता है और दुःख भोगता है।

—श्रीमद् राजचन्द्र

